जिंदगी की राह पर

एक चिंतन प्रवाह

गोपाल जालान

विशाल प्रकाशन
राजगढ़, गुवाहाटी-३

JINDEGI KI RAHA PAR EK CHINTAN PRABAH

A collection of various Articles written in Hindi by
Gopal Jalan and published by Brajendra Nath Deka of behalf
of Bishal Prakashan, Rajgarh, Guwahati-3

First Edition : Aug, 2014 Price : Rs. 200/- Only

ISNB No. 978-93-82587-21-7

प्रकाशक: ब्रजेंद्र नाथ डेका
विशाल प्रकाशन, राजगढ़, गुवाहाटी–३
फोन : ९८६४०–३८८१४
प्रकाशक द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रथम प्रकाश : २०१४
मूल्य : २००/– रुपए
मुख्य पृष्ठ : पंकज पोरान
मुद्रण :
कस्तुरी प्रेस
राजगढ़, गुवाहाटी–७

सादर-समर्पित

पुज्यनीय पिताश्री स्वर्गीय वासुदेव जालान
और माताश्री स्वर्गीय पुष्पा देवी जालान की
पवित्र स्मृति में समर्पित ।

-गोपाल जालान

Blank Page

लेखक के दो शब्द

जीवन-मार्ग पर घटित होने वाले घटना प्रवाह हर एक के जीवन में प्रभाव डालते हैं। कभी-कभी छोटी-छोटी बातें भी व्यक्ति के जीवन मार्ग को बदल देती हैं। जिंदगी का अनुभव गुजरे जीवन में घटित छोटी-बड़ी घटनाओं का ही क्षेत्र है। इंसान जितना आगे की ओर बढ़ता है, उसके अनुभव का ग्राफ भी उतना ही ऊंचा उठता जाता है। दरअसल, सामाजिक जीवन को छोड़ कोई भी आगे नहीं बढ़ सकता। इसीलिए मनुष्य को घात-प्रतिघात का सामना करना पड़ता है। जो व्यक्ति साहस के साथ सामने नजर आने वाली चुनौतियों का सामना कर पाया है, वही जीवन मार्ग पर एक कदम आगे बढ़ पाया है। कोई भी व्यक्ति अप्रत्याशित घटना का सामना नहीं करना चाहता, मगर कोई भी घटना इंसान की मर्जी पर निर्भर भी नहीं रहती। एक कदम बढ़ाकर दूसरा कदम बढ़ाते वक्त बहुत से लोग लड़खड़ा जाते हैं। कभी-कभी वे लोग जीवन की फिसलन भरी राह पर खड़े नहीं रह पाते।

गुजरे जीवन की सभी बातों को याद रख पाना संभव नहीं है। जीवन की वही बातें लंबे समय तक याद रहती हैं, जो प्रगाढ़ होती हैं। जीवन चक्र का गतिमार्ग किस दिशा में जाएगा, यह भाग्य नियंता के अलावा और कोई नहीं जानता। फिर भी इंसान पीछे की ओर मुड़कर देखना नहीं चाहता। पीछे की ओर लौट जाना पलायनवादी मानसिकता का ही नतीजा होता है। दैनिक जीवन में जो घटनाएं मन पर प्रभाव डालती हैं, उन सब का स्कैच आंक पाएं तो वह बाद में दूसरों के लिए चर्चा का केंद्र हो जाता है। वैसी ही एक छवि 'जिंदगी की राह पर : एक चिंतन प्रवाह' के माध्यम से आंकने की कोशिश की है। संकलन प्रकाशित करने में सहयोग करने के लिए विशाल चंद्र प्रकाशन के ब्रजेंद्र नाथ डेका के प्रति आभार प्रकट करता हूं। इसके अलावा मेरी असमिया पुस्तक का हिंदी में अनुवाद करने के लिए संतोष अग्रवाल 'कल्पतरु' को भी विशेष रूप से धन्यावाद देता हूं। पाठक वर्ग का इस संकलन को सप्रेम स्वीकार करना मेरे लिए प्रेरणा का मुख्य स्रोत होगा। आशा ही नहीं, मुझे पूर्ण विश्वास है कि सुधि पाठक मेरा उत्साहवर्द्धन करेंगे।

-गोपाल जालान

भूमिका

उदीयमान लेखक गोपाल जालान का निबंध संकलन 'जिंदगी की राह पर एक चिंतन प्रवाह' दैनिक जीवन से हासिल अनुभवों का एक स्कैच है। कैनवास पर चित्रित एक स्कैच की निपुणता के साथ उनके द्वारा हर एक निबंध को सुदृढ़ता सहित चित्रित किए जाने की वजह से इन्हें पढ़कर रोचक लगता है। यह शरद, वह शरद, डा. भवेंद्र नाथ सइकिया का जन्मदिन, एक बार फिर बज उठे रण के पांचजन्य, धर्म से अंतिम निबंध तक हर एक में जीवन मार्ग पर प्राप्त अनुभव का उन्होंने स्कैच की तरह चित्रण किया है। जीवन के रास्तों पर लड़खड़ा कर गिर पड़ने के कड़ुवे अनुभव को भी कई निबंधों में शामिल किया गया है। प्राचीनकाल में भी शरद काल का अर्थ उत्सव के समय से रहा है। वैष्णव रास उत्सव से शरद का स्वागत किया करते थे। उसी शरद में आतंकवादियों द्वारा बिना सोचे-समझे किए गए विस्फोटों से धमाकों की चपेट में आकर हजारों लोग क्षत-विक्षत हो गए। कुछ ही पल में खून की नदियां बह उठीं। हजारों परिवारों में अंधेरा छा गया। निबंधकार सवाल उठाता है - आतंकवादी ऐसी कायरतापूर्ण हरकतों से लोगों को रास उत्सव के आनंद से यदि दूर कर देते हैं तो वह पशुत्व के सामने मनुष्यत्व की पराजय होगी। लिहाजा, अधिक उत्साह से रास उत्सव का पालन कर आतंकवादियों को दिखाना चाहिए कि उनके दुष्कर्म के सामने मानवता सर नहीं झुकाएंगी। संकलन के लगभग सभी निबंधों में सकारात्मक और सृजनात्मक नजरिया छिपा है। लेखक ने एक बार फिर पांचजन्य बजाने के लिए संस्कृति के प्रतीक श्री कृष्ण से अपील की है। अधिकांश भारतीय

कृष्ण संस्कृति के पुजारी हैं। कुरूक्षेत्र के मैदान में जिस तरह से अन्याय के खिलाफ लड़ाई लड़ न्याय को स्थापित किया गया था, उसी तरह न्याय की प्रतिष्ठा करने के लिए आज के समाज से उन्होंने अपील की है। भारतीय धर्म सुंदर संस्कृति का एक उपादान है, इसका भी उन्होंने अपने एक निबंध में उल्लेख किया है। 'मारवाड़ी होने का मतलब व्यापारी होना नहीं है' शीर्षक निबंध में भले ही उन्होंने आम जनता के नजरिए का उल्लेख किया है, व्यवसायी होना निश्चय ही कोई अपराध नहीं है। जिस तरह बिना कृषि के समाज नहीं चल सकता, ठीक उसी तरह व्यवसाय-वाणिज्य के बिना भी समाज नहीं चल सकता। अंग्रेज व्यवसाय करने वाली जाति के रूप में विख्यात हैं, मगर जिस किसी भी समुदाय के क्यों न हों, व्यवसायियों में नीति-निष्ठा होनी जरूरी है। 'भ्राम्यमान 50 : कृष्ण राय 50' शीर्षक निबंध से उन्होंने अपने संकलन का समापन किया है। सिर्फ 50 वर्षों में भाई कृष्ण राय भ्राम्यमान नाटक जगत का एक नक्षत्र बन पाने में कामयाब हुए हैं। यह हम सभी के लिए गर्व की बात है। गोपाल जालान के संकलन के हर एक पन्ने में आत्मविश्वास का पैगाम है, जिसे पढ़ने से निश्चय ही पाठक वर्ग उपकृत होगा। उम्मीद करता हूं, जालान की कलम अविरत चलती रहेगी।

अग्रदूत भवन
दिसपुर, गुवाहाटी

-कनकसेन डेका

एक चिंतन प्रवाह

असम के प्रख्यात लेखक तथा पूर्व सांसद स्व. हेम बरुवा ने कहा था- 'राजनीति मेरे इस लोक के लिए है और साहित्य उस लोक के लिए' इस कथन का स्मरण करते हुए हम कह सकते हैं कि 'गोपाल जालान अपना यह जन्म संवारने के लिए व्यापार करते हैं और वह जीवन सुधारने के लिए साहित्य सृजन करते हैं।' असम के साहित्य व संस्कृति जगत में गोपाल जालान एक जाना पहचाना नाम है। इन दोनों जहान में गोपाल जालान स्वयं साहित्य सृजन करने के साथ ही दूसरों को भी साहित्य सृजन करने के लिए उत्साहित करते हैं। गोपाल की असमिया भाषा में दो पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है और हिंदी भाषा में लिखी गई उनकी यह पहली पुस्तक है। राज्य के विभिन्न समाचारपत्रों-पत्रिकाओं में श्री जालान के प्रकाशित लेखों का इस पुस्तक में संकलन किया गया है। इन लेखों की विषय-वस्तु लेखक के चिंता प्रवाह को दर्शाती है। इस पुस्तक में कुल ७१ लेखों को शामिल किया गया है। डा. भवेंद्र नाथ सइकिया, डा. भूपेन हजारिका, मामोनी रायसम गोस्वामी से लेकर डायन हत्या, महिला दिवस, बिहू, पत्रकारिता, युवा सोच आदि विभिन्न प्रकार के चिंतन को इस पुस्तक में शामिल किया गया है। समाज के एक संवेदनशील युवा प्रतिनिधि के तौर पर विभिन्न मौकों पर विभिन्न मुद्दों ने उनके मन में जिस प्रकार की प्रतिक्रिया पैदा की, उसी को उन्होंने अपनी कलम के माध्यम और अपनी रचनाओं के जरिए लोगों के सामने रखने की कोशिश की है। इस मायने में 'जिंदगी की राह पर : एक चिंतन प्रवाह' एक सार्थक नाम है। लेखक की सोच के बुलबुलों ने प्रवाह का रूप लिया है और पाठक इस प्रवाह की जलधारा में खुद को प्रवाहित कर लेखक की सोच में हिस्सेदार बन सकते हैं। लेखक की बातों में कहीं-कहीं असहमत भी हुआ जा सकता है। मगर, पुस्तक में उठाए गए मुद्दों से हम स्वयं को अलग-थलग नहीं कर सकते-पुस्तक को पढ़ने के बाद इस बात को महसूस किया जा सकता है।

थानेश्वर मालाकार
गुवाहाटी

गोपाल जालान ने लिखी एक और किताब

गोपाल जालान एक उदीयमान लेखक हैं। 'जिंदगी की राह पर : एक चिंतन प्रवाह' उनका पहला हिंदी निबंध संकलन है। इसमें कोई शक नहीं कि गोपाल जालान न सिर्फ एक अच्छे लेखक हैं बल्कि एक अच्छे चिंतक भी हैं। इस पुस्तक में उन्होंने सामयिक प्रसंगों पर अपनी लेखनी चलाई है। कहीं पर अपनी यादों के झरोखों को खोलते हुए अपने स्कूल और कालेज जीवन की रोचक घटनाओं को पाठकों के साथ शेयर कर रहे हैं तो कहीं असमिया समाज की मौजूदा स्थिति में आ रही गिरावट देख चिंतित भी नजर आते हैं। कई लेखों में उन्होंने असमिया समाज को चेताते हुए यह भी लिखा है कि अब भी अगर हम अपनी संस्कृति के प्रति उदासीन रहेंगे तो वह दिन दूर नहीं जब हम दूसरों की आयातित संस्कृति पर पलने लगेंगे। अब भी संभलने का मौका है अगर लड़खड़ाकर चलेंगे तो एक ऐसी ठोकर खाकर गिर पड़ेंगे कि लोग हंसेंगे और हम धूल ही चाटते रह जाएंगे। विशिष्ट साहित्यकार कनकसेन डेका ने गोपाल जालान की निर्भीक लेखनी की प्रशंसा करते हुए भूमिका में लिखा है कि गोपाल जालान के संकलन के हर पन्नों में आत्मविश्वास की झलक है। इसलिए पुस्तक पढ़ने वाला पाठक समाज लाभान्वित होगा। अपने पहले ही लेख 'यह शरद, वह शरद,' में श्री जालान रास पूजा के समय आतंकवादियों द्वारा बम विस्फोट कर जनता के बीच में आतंक फैलाने की निंदा करते हुए कहते हैं कि हमें अपने कार्यों द्वारा आतंकवादियों को उल्टे चेतावनी देते हुए कहना चाहिए कि कायरों की तरह छिपकर कुछ बमों को विस्फोट कर तुम लोग असमिया जाति को डरा नहीं सकते। इसके अलावा 'कहां गए चिट्ठियों का बोझ ढोने वाले डाकिए', 'फेसबुक के चंगुल में युवा

पीढ़ी', 'प्रसंग : डायन हत्या', 'बिहू गीत और कुछ प्रासंगिक चिंताएं' आदि लेख दिल को छूने वाले हैं। 'मारवाड़ी होने का मतलब व्यापारी होना नहीं है' नामक लेख में अहम विषयों पर गहराई से चिंतन करते हुए कुछ बातों को असमिया पाठक समाज के सामने रखकर न सिर्फ उन्हें शर्मिंदा किया है बल्कि सोचने पर भी मजबूर किया है।

पहले तो वह कहते हैं कि यह सच है कि मारवाड़ी लोग असम में व्यवसाय करने आए हैं, सिर्फ असम में ही व्यवसाय करने आए हों ऐसा नहीं है। भारत के अन्य प्रदेशों में भी कम मारवाड़ी व्यवसायी नहीं हैं। सुदूर राजस्थान से असम आकर स्थायी रूप से निवास करने वाले अधिकांश मारवाड़ी असमिया संस्कृति में घुल मिल गए हैं। इनमें से कइयों के लड़के-बच्चों ने राजस्थान में बाप-दादों के घर भी नहीं देखे हैं। मारवाड़ियों को असम में कई तरह से बदनाम किया जाता रहा है। जब भी किसी सामान के दाम बढ़ते हैं तो मारवाड़ियों पर अंगुली उठने लगती है। श्री जालान कई बातों का कड़ा विरोध करते हुए अपनी ओर से खरी-खरी बातें कही है। एक प्रसंग उन्होंने जोरदार ढंग से प्रस्तुत किया है कि जब किसी कार्यक्रम में चंदा लेने की बात आती है तो मारवाड़ी से चंदा लेने पर परहेज नहीं लेकिन जब किसी आयोजन पर मुख्य अतिथि या उद्घाटक के रूप में मंच पर किसी मारवाड़ी को सम्मानित किया जाता है तो एक हलचल मच जाती है। गोपाल जालान ने छोटे-छोटे लेखों के माध्यम से अपनी बातों को बिना किसी लाग-लपेट के रखने का सराहनीय प्रयास किया है। गोपाल की कलम कभी रूके नहीं और जीवन के रास्ते में निर्बाध गति से आगे बढ़ती रहे यही हमारी कामना है।

- किशोर कुमार जैन

प्राक्कथन

भाई गोपाल जालान के समय-समय पर लिखे लेखों के संकलन 'जिंदगी की राह पर : एक चिंतन प्रवाह' का मसौदा हाथ में पाकर अपार खुशी हुई है। गोपाल कम-से-कम तीन दशकों से लेखन और संस्कृति के क्षेत्र से जुड़े हुए हैं। प्रस्तुत संकलन में शामिल लेख स्वयं गवाह हैं कि उनके सरोकार का क्षेत्र कितना विस्तृत है। भूपेन हजारिका, भवेंद्रनाथ सइकिया, मामोनी रायसम गोस्वामी जैसी असम की साहित्य-संस्कृति जगत की हस्तियों से गोपाल के नजदीकी रिश्ते थे। उनके सान्निध्य में वे एक शिष्य की हैसियत से जाते थे और बदले में उन्हें उनके ढेर सारे प्यार के अलावा असम के समकालीन साहित्य-संस्कृति जगत से जुड़े-मुद्दों पर सोचने के लिए सामग्री भी मिल जाती थी। इसी वैचारिक उत्तेजना को वे लेख के माध्यम से कागज पर उतारकर अखबारों में छपवाया करते थे।

भारत के हर प्रांत की संस्कृति अनूठी है, उसी तरह असम की भी। गोपाल के पुरखे हमारी ही तरह पिछले डेढ़ सौ साल की अवधि में ही असम आकर बसे थे। असम में जिन्हें मारवाड़ी कहा जाता है उनमें से अधिकांश के पुरखे इसी दौरान असम आकर बसे थे। गोपाल और उनका परिवार असमिया संस्कृति में पूरी तरह रचा-बसा हुआ है। हिंदी में आई गोपाल की यह पुस्तक असम में रहने वाले अन्य हिंदीभाषी परिवारों में भी असमिया संस्कृति की कुछ केंद्रीय महत्त्व की चीजों के प्रति यदि उत्सुकता जगा पाती है तो निश्चय ही उनका यह लेखन सार्थक माना जाएगा।

पुस्तक और नाटक- ये गोपाल के दो जुनून हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि गोपाल असम के पुस्तक मेला आंदोलन और नाट्य आंदोलन से ओतप्रोत रूप से जुड़े हुए

हैं। ढाई दशकों तक चले उग्रवाद के दौरान असम में बहुत-सी अच्छी चीजें भी होती रहीं जिनमें शामिल है यहां पुस्तक मेला आंदोलन और नाट्य आंदोलन का धीरे-धीरे एक मुकम्मल आकार ले लेना। साधारण मीडिया ने इस पर कम ध्यान दिया है। असम का सिनेमा जहां अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा है, वहीं यहां का मोबाइल थिएटर काफी मजबूत स्थिति में है। गोपाल जालान मोबाइल थिएटर से भी गहराई से जुड़े हुए हैं और इसके विकास में अपना योगदान दे रहे हैं।

गोपाल जालान असमिया साहित्यिक सांस्कृतिक जगत के जाने-माने व्यक्तित्वों के साथ अंतरंग रूप से जुड़े हुए हैं। इन अंतरंग संबंधों के चलते उनके पास ऐसी जानकारियां होती हैं जो अन्य लेखकों के पास नहीं होतीं। किसी सार्वजनिक व्यक्तित्व का एक निजी चेहरा भी होता है जिसके बारे में बहुत कम लोगों को पता होता है। गोपाल को कई जानी-मानी हस्तियों के व्यक्तिगत जीवन के बारे में काफी जानकारी है। वे चाहें तो आने वाले दिनों में हमें और अधिक विचारोत्तेजक सामग्री दे सकते हैं।

असम में जिनके पुरखे कभी राजस्थान से आए थे उनमें से अधिकांश को आज भी पठन-पाठन, चिंतन-मनन से आम तौर पर कोई मतलब नहीं है। फिर भी एक छोटा-सा वर्ग है जो अपनी स्थिति पर सोचता रहता है। असम में इन पूर्व राजस्थानियों को बुरा-भला कह देना, वह भी सार्वजनिक रूप से, एक आम बात है। एक अखबार ने तो इसी के दम पर अपनी प्रसार संख्या बढ़ा ली। जब-जब इन पूर्व राजस्थानियों की उनके नहीं किए अपराधों के लिए भर्त्सना की जाती है, तब-तब इस वर्ग के मस्तिष्क में जबरर्दस्त छटपटाहट पैदा होती है। इस छटपटाहट से निकली वैचारिक ऊर्जा को किस तरह सही दिशा में प्रचालित करना है यह सोचने वाली बात है। असम में आज भी व्यापार को उत्कृष्ट कर्म नहीं समझा जाता। इसी की प्रतिक्रिया में विचारवान व्यापारी कहता है 'नहीं-नहीं, हम तो सिर्फ व्यापारी नहीं है'। गोया 'सिर्फ' व्यापार करना कोई अपराध हो। गोपाल जालान की यह पुस्तक एक बार फिर इस आवश्यकता की ओर इशारा करती है कि राजस्थानी, हिंदी और असमिया को एक साथ मातृभाषा की तरह बरतने वाले लोगों को आपस में विचार विनिमय की प्रक्रिया को मजबूत बनाना चाहिए।

विनोद रिंगानिया
सलाहकार संपादक
दैनिक पूर्वोदय

सूची-पत्र

- यह शरद, वह शरद 15
- डॉ. भवेंद्र नाथ सइकिया का जन्मदिन 17
- एक बार फिर बज उठे रण का पांचजन्य 19
- धर्म 22
- गैर पेशेवर नाट्य-गोष्ठी और हमारा समाज 24
- पुस्तक मेला आंदोलन 27
- युगसंधि के जटिल क्षण में रंगाली बिहू 29
- लोकतंत्र की औपचारिकता 32
- नववर्ष का अनुभव और विश्वास 34
- नववर्ष का संकल्प और कुछ प्रासंगिक चिंतन 36
- पुस्तक मेले की भी है जातीय जिम्मेदारी 38
- प्रेस फ्रीडम : क्या है भविष्य 40
- बजाली हाईस्कूल : एक स्मृति 42
- बजाली कॉलेज : एक स्मृति 44
- साहित्य सभा ही खोलेगी नया द्वार 47
- धधकते इंग्लैंड में भारतीय क्रिकेट टीम की सुरक्षा 50
- फेसबुक के चंगुल में युवा पीढ़ी 53
- डॉ. भूपेन हजारिका और फैशन 55
- भोगाली बिहू का पीठा और व्यापारिक संभावनाएं 57
- लोकतंत्र जहां प्रधान है 59
- भूपेन दा का भी लगना चाहिए मोम का बना बूत 62
- कहां गए चिट्ठियों का बोझ ढोने वाले डाकिए 64
- श्रीमती देवी : ममता का दूसरा रुप 66
- लोक कलाकार गोकुल पाठक 69
- मामोनी बाइदेउ : मानवता की मूरत 71
- प्रसंग : डायन हत्या 74
- क्षय होती युवा मानसिकता और थोड़ी चिंता-चर्चा 77
- एक सम्मोहिनी शक्ति के धनी थे डॉ. भूपेन हजारिका 80
- एक मूर्तिकार की व्यथा 83
- बदलती पाठशाला : थोड़ी चिंता-थोड़ा चिंतन 86
- कृषि, प्रकृति, पशुधन और बिहू 90
- बिहू गीत और डॉ. भूपेन हजारिका 94
- समन्वय की एक डोर थे भूपेनदा 96
- समाज से अलग नही हैं विकलांग 99

- एक अपरिचित दोस्त की बातें 101
- एक वृद्ध दंपति की कहानी 104
- यासमीन, जिसके लिए जीवन एक चुनौती है 106
- पत्रकार, पत्रकारिता और चुनौतियां 108
- बच्चों पर अतिरिक्त दबाव : जिम्मेदार कौन 111
- बिहू गीत और कुछ प्रासंगिक चिंताएं 114
- चुंबकीय आकर्षण वाले एक कवि की बातें 117
- अपने आप में एक संस्थान थे डॉ. भूपेन हजारिका 119
- निर्मल हंसी वाली महिला 121
- ज्ञान उत्सव मेला डॉ. भूपेन हजारिका का संग्रहालय 123
- कलाकार पेंशन से वंचित 125
- कहां खो गई मानवता! 127
- पेट भरने के लिए चाहिए कलाकार पेंशन 130
- एक शताब्दी का गवाह है पाठशाला का माध्यमिक विद्यालय 132
- काम करने वाली लड़की और महिला दिवस 134
- शर्मिष्ठा प्रीतम और एक अनुभूति 137
- एक फोटो की कीमत २९ करोड़ ! 139
- नेपोलियन बोनापॉर्ट का वह सेनापति 141
- समन्वय के सेतु : हृदयानंद अग्रवाला 145
- अच्छे नाटकों पर ही टिका है भ्राम्यमान थिएटर का अस्तित्व 148
- पाठशाला और भ्राम्यमान थिएटर 151
- मारवाड़ी होने का मतलब व्यापारी होना नहीं है 155
- भ्राम्यमान 50 : कृष्ण राय 50 159
- जातीय दंगे : भ्राम्यमान थिएटर की यात्रा और कुछ प्रासंगिक चर्चाएं 161
- सुधाकंठ, शांति की वाणी फैलाने के लिए तुम फिर आओ 163
- कहां खो जाते हैं मेधावी विद्यार्थी 165
- एवरेस्ट शिखर पर दो असमिया पुत्र 167
- असम नाट्य महोत्सव 2014 और शिल्पी सहायता निधि 169
- क्या आज असम खुला है ! 172
- पूर्वोत्तर को विकलांग मुक्त बनाने में लगा है तोलाराम बाफना कृत्रिम पैर व कैलिपर केंद्र 174
- शून्यता के दो वर्ष 176
- सफलता-विफलता के भंवर में फंसा गणतंत्र 178
- बरपेटा का देउल उत्सव 181
- बहाग बिहू और परंपराएं 184
- कलाक्षेत्र को न बनाएं किसी का समाधिस्थल 186
- परंपरागत सुरों को संग्रहित करने वाला वह कलाकार 189

यह शरद, वह शरद

खून से नहाए इस असम में अबकी बार रास महोत्सव आया है। धूल और धुएं से धुसरित आकाश, खून के चक्कते, जले मांस की गंध, दिल दहला देने वाली पीड़ितों की रोने की आवाज, इन सब के बीच दिल और दिमाग में इन स्मृतियों को जिंदा रखते हुए असम के लोगों ने रास का आयोजन किया है। वर्ष 2008 की 30 अक्टूबर को राज्य के चार स्थानों पर हुए लगभग 10 भयावह बम विस्फोटों ने अभूतपूर्व तरीके से जिस प्रकार का नारकीय दृश्य उत्पन्न किया, कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसी करुण स्थिति पैदा की कि उसके बाद उत्सव के आयोजन का माहौल अथवा किसी में इसको लेकर कोई उत्साह भी है, ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। फिर भी हमें रास का आयोजन करना ही होगा। क्योंकि यह रास हमारे लिए एक महत्वपूर्ण जातीय पहचान है। रास हमारी असमिया जाति की एक बेहद महत्वपूर्ण सांस्कृतिक संपदा है। आतंकवादी यदि अपने पैशाचिक कार्यकलापों के दम पर हमें अपनी सांस्कृतिक संपदा की रक्षा करने से अलग कर पाए, हमारी जातीय पहचान को बनाए रख पाने से हमको दूर रख पाए। तभी हम कह पाएंगे कि आतंकवाद और आतंकवादी सफल रहे। इसलिए आतंकवादियों के बम धमाकों से घायल होकर, दुखी होकर, आतंकित होकर हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहने के बजाए हमें स्वाभाविक जीवन की ओर वापस लौटना ही होगा। हमारे जातीय पहचान की वाहक सांस्कृतिक संपदा स्वरूप उत्सव-पर्वों का पालन करते ही रहना होगा। हो सकता है माहौल-स्थिति को ध्यान में रखते हुए हम बाहरी आडंबर को कुछ कम कर सकते हैं। अपने कार्यों द्वारा हमें आतंकवादियों को उल्टे चेतावनी देनी होगी- कायरों की तरह चुपचाप कई बम धमाके कर, कई सौ लोगों की हत्याएं कर तुम लोग असमिया जाति को डरा नहीं सकते। असमिया जाति अतीत में बहुत से बड़े-बड़े दुश्मनों के खिलाफ लड़ाई लड़ उनमें विजयी होकर अपने अस्तित्व की रक्षा करती आई है और आगे भविष्य में भी जीत हासिल

करती रहेगी। इसी बात पर दूसरे विश्वयुद्ध के समय की एक घटना याद आती है। वह दूसरे विश्वयुद्ध का प्रथमार्द्ध था। चारों ओर हिटलर के जर्मन की जय-जयकार हो रही थी। जर्मनी वायु सेना ने बम बरसाकर लंदन को लगभग पूरी तरह विध्वंस कर दिया था। वैसे दिनों में कोई एक दिन शाम को रायल इंग्लिश आर्मी के कई जनरल युद्ध से संबंधित कई बेहद महत्वपूर्ण मसलों पर चर्चा करने के लिए तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री विस्टन चर्चिल से साक्षात्कार करने पहुंचे। मगर, जनरल सभी को हाथों-हाथ चर्चिल से मुलाकात करने की अनुमति नहीं मिली। कारण, क्योंकि चर्चिल तब अन्य कई लोगों के साथ बातचीत में व्यस्त थे। कौन थे वह लोग- जिनके साथ बातचीत चल रही होने की वजह से चर्चिल अपनी सेना के कई अधिकारियों से इंतजार करवा रहे हैं। बाद में पता चला वह लोग कृषि वैज्ञानिक थे। सेना के जनरल सभी को आश्चर्य हुआ। दूसरे विश्वयुद्ध की इस संकटपूर्ण घड़ी में शीर्ष सैन्य अधिकारियों से इंतजार करवा चर्चिल कृषि वैज्ञानिकों के साथ किस मुद्दे पर बातचीत कर रहे थे? चर्चिल बातचीत कर रहे थे आलू की खेती के विकास के बारे में। आश्चर्य ! चर्चिल का क्या दिमाग खराब हो गया है! नहीं हुआ। चर्चिल की भविष्यदृष्टि का ही और अधिक विस्तार हुआ है। उन्हें पता था- दूसरा विश्वयुद्ध एक न एक दिन खत्म हो जाएगा। ये अभिशप्त दिन एक न एक दिन खत्म हो जाएंगे। मगर लोगों को खाद्य की जरूरत हमेशा रहेगी। इस सामयिक संकट के समय में यदि लोगों के चिरस्थाई जरूरत की बात को भूला दिया जाए तो भविष्य अंधकारमय हो जाएगा। इसीलिए चर्चिल उस विश्वयुद्ध में इंग्लैंड की विजय की बात सोचने के साथ-साथ आलू की खेती की विकास की बात भी उतनी ही गंभीरता से सोच रहे थे। हमें भी इस मामले में चर्चिल के आदर्शों को अपनाना होगा। हमें विश्वास रखना होगा कि असम पर आतंकवादियों के हमले सामयिक अभिशाप है। इन हमलों का असम के लोग एक न एक दिन तो मुकाबला करेंगे ही। मगर आतंकवादियों के इन हमलों के समय हम यदि धैर्य खोकर अपनी परंपरा, हमारी संस्कृति को छोड़ पालायन करें तो भविष्य में हमारी पहचान खत्म हो जाएगी।

डॉ. भवेंद्र नाथ सइकिया का जन्मदिन

वर्ष 2002 की 20 फरवरी, इसी दिन 'आरोहण' की आधारशिला रखी गई थी। डॉ. भवेंद्र नाथ सइकिया का जन्म दिन भी 20 फरवरी को ही है। 'आरोहण' की आधारशिला रखे जाने के डेढ़ साल पूरे होने से पहले ही वर्ष 2003 के 13 अगस्त को डॉ. सइकिया हमेशा-हमेशा के लिए गहरी नींद में सो गए। वर्ष 2002 की 20 फरवरी और वर्ष 2003 के 13 अगस्त, दोनों ही दिनों की बातें याद हैं। इन बातों को महसूस किया है और इनका तात्पर्य खोजते हुए इस घड़ी कुछ अनुभव भी कर रहा हूं - Great minds have purposes, others have wishes. Little minds are tamed and subduced by misfortune; but great minds rise above them. 'आरोहण' बच्चों के बौद्धिक, शारीरिक और मानसिक विकास का एक मुक्तांगन है। उस मुक्तांगन की चौपाल पर कदम रखते ही मुझे बार-बार उनकी याद आ रही थी। सकारात्मक मनुष्य से हमेशा ही अपनापन मिलता है। उसी अपनेपन भरे माहौल में रहने का अवसर मिलने की वजह से बार-बार उनकी याद आ रही है। दुनिया में जितने बच्चे हैं, जितने बाल सुलभ मन वाले इंसान हैं, सभी को यहां का मुक्तांगन उपलब्ध हो। 20 फरवरी के दिन के बारे में पूरी गंभीरता से, दिल की गहराइयों के साथ जतन किया जाना चाहिए। उम्र के हाथों साल-दर-साल उम्रदराज होने से अच्छा है कि हम हर एक दिन के सामने नया दिखने की उम्मीद करें। इसी तरह डॉ. भवेंद्र नाथ सइकिया की आज कोई उम्र नहीं है। होने को सिर्फ पर्याप्त यौवन से भरपूर सृजनशीलता ही है। जब उनके पास गया, तभी जान पाया कि समय की पावंदी और समय के प्रति गहरा लगाव एक इंसान को कितना धनवान बना सकता है। जीवन की परिकल्पना पूरी सावधानी से करनी चाहिए। घंटे-दर-घंटे, दिन के बाद दिन, महीने के बाद महीनों में सावधानी से परियोजना बनानी चाहिए। यह बात मैंने उनसे ही सीखी थी। पाठशाला से चलकर आहिस्ता-आहिस्ता उनके करीब आने वाले दिन

मेरे लिए हमेशा ही नवीन रहेंगे। मितव्ययी और सभी प्रकार के हिसाब से संबंधित कागजों को संभालकर रखना पसंद करने वाले इस व्यक्ति से दूसरों की तरह जितना हासिल किया, उसकी तुलना मैं कुछ भी दे नहीं पाया।

संपूर्ण व्यक्तिगत जीवन में, जीवन के व्यापारिक क्षेत्र में इतनी व्यस्तता रहने के बावजूद उनके सान्निध्य में आने के बाद यह समझ पाया हूं कि देश के लिए, समाज के लिए कुछ करने की नीयत नहीं रखने पर समय वैसे व्यक्ति को याद नहीं रखता। समय याद रखे, इसके लिए सृजनशीलता को अपनाना ही होगा। वह सृजनशीलता यदि किसी अन्य के लिए मंगलकारी हो तो और अच्छी बात है। दुनिया में ईमानदारी से जीने की कोशिश करना जीवन का निश्चित और शुद्ध मार्ग है। उसके लिए मान-सम्मान हासिल करने के लिए सच्चाई का सामना करना पड़ेगा। वे उस सच्चाई से बचपन से ही रू-ब-रू होकर सभी समस्याओं से किसी तरह पार पाते हुए आज 'आरोहण' के रास्ते पर पग धर पाए हैं। उनका नजरिया सभी शिल्प-कलाओं में प्रतिबिंबित हो रहा है।

सइकिया जी के हमें छोड़कर जाने के बाद से हर साल 20 फरवरी को उनका जन्मदिन मनाने के लिए पूरे राज्य में एक विशेष प्रकार का उत्साह नजर आता है। सिर्फ हमारे राज्य में ही नहीं, पूरे देश भर में कला-संस्कृति तथा बौद्धिक जगत के अग्रणी साधक, असमिया संस्कृति के मुकुटविहीन सम्राट डॉ. सइकिया के जीवित रहने के दौरान ऐसा उत्साह नजर नहीं आता था। ऐसे उत्साह का उन्होंने कभी समर्थन भी नहीं किया था। जीवित रहते उनके प्रशंसक उनके समय और आदर्शों के साथ एकरूपता रखते हुए उनका जन्मदिन अर्थपूर्ण ढंग से मनाते थे। इसीलिए अब इस घड़ी सवाल उठता है कि इस व्यक्ति की अनुपस्थिति में उनका जन्मदिन किस तरह से मनाया जाना चाहिए। सइकिया जी के जन्मदिन की सार्थकता को किस तरह से स्वीकृति दी जाए। 20 फरवरी का दिन समस्त असमवासी, असमिया साहित्य-संस्कृति के लिए एक उल्लेखनीय दिन है। इसी दिन डॉ. सइकिया जैसे असमिया साहित्य कला-संस्कृति के एक साधक का जन्म हुआ था। हमारी सोच है कि वैसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण डॉ. सइकिया के जन्मदिन को 'कला-संस्कृति दिवस' के रूप में मनाया जाना चाहिए। असम सरकार और असम साहित्य सभा हमारे इस प्रस्ताव को गंभीरता से लेते हुए 20 फरवरी के दिन औपचारिक रूप से यदि यह घोषणा करती है, तभी उनके जन्मदिन को एक अर्थपूर्ण स्वरूप मिल पाएगा।

एक बार फिर बज उठे रण का पांचजन्य

भारत के इतिहास में भगवान श्रीकृष्ण एक अपूर्व चरित्र है। यह चरित्र एक ऐतिहासिक मानसिक चरित्र है या महाकाव्य के कवि की कल्पना अथवा भगवान की अवतारी सत्ता–इसको लेकर विद्वानों में मतभेद रहने के बावजूद भारत तथा विश्व के करोड़ों लोग श्रीकृष्ण को सृष्टिकर्ता भगवान विष्णु अथवा नारायण का अवतार ही मानते हैं और इसीलिए उनको भगवान कृष्ण कहकर बुलाते हैं। करोड़ों लोगों के इस विश्वास को सिरे से खारिज तो हरगिज नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर श्रीकृष्ण स्वयं 'जब–जब भारत में धर्म की हानि होती है, दुष्टों का संहार और ऋषियों का उद्धार कर धर्म को पुनर्स्थापित करने के लिए हर युग में अवतार लेता हूं' कहकर सच में ही वे भगवान का ही अवतार हैं, इस बात का अकाट्य प्रमाण दे गए हैं।

द्वापर युग के अंतिम चरण में महाभारत के युद्ध के आस–पास जब पुण्य भूमि भारत में दुष्टों का प्रकोप बढ़ गया था, धर्म और धर्म का पीठस्थान कहे जानेवाले भारत में धर्म की हानि होने लगी थी, तब उनके स्वयं के कहे अनुसार भगवान श्रीकृष्ण का अवतार हुआ था। उनका जन्म हुआ था करागार की अंधेरी कोठरी में और

तब की तत्कालीन मथुरा नगरी के अधिपति महाराजाधिराज कंश के अधीन एक साधारण सामंत नंद के घर उनका लालन-पालन हुआ था। गोकुल में नंद के घर में बड़े होने के दौरान भगवान का पूर्ण अवतार लेकर उन्होंने सभी की मनोकामनाएं पूरी की थीं। अपने ग्वाल-बालों के साथ उन्होंने गाएं चराई थीं, विद्या अध्ययन करने के लिए ऋषि आश्रम में दाखिला ले, उस युग की परंपरा के अनुसार लोगों के घर-घर जाकर भिक्षा भी मांगी थी। मित्रों के साथ खेल-कूद करने के अलावा कभी-कभी शरारतें भी की थीं। मगर, इसके साथ-साथ वे जन्म के बाद से ही अधर्म का विनाश कर धर्म को पुनर्स्थापित करने में भी लगे रहे। श्रीकृष्ण के जन्म के समय वासुदेव-देवकी का बंधन स्वयं खुल जाना, मानो ऋषियों को उद्धार करने के कार्य की प्रतीकात्मक शुरुआत भर थी। उसके बाद से ही बाल गोपाल और किशोर कृष्ण के हाथों बड़ी संख्या में राक्षस-राक्षसनियां मारी गई थीं। अहंकारी आचरण को कोई भी सहन नहीं करता, वह चाहे देव-देवता, सुर-असुर हो अथवा मानव। और तो और देवराज इंद्र और स्वयं सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्मा के अहंकार को भी भगवान श्रीकृष्ण ने अपने दैविक कर्मों से ध्वस्त किया था।

गोपियों के वस्त्रहरण, रासलीला और 16 हजार सुंदरियों से विवाह करना भगवान श्रीकृष्ण के जीवन की कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं हैं। उनके कार्य, मानसिक सोच और नजरिए की व्याख्या अथवा विश्लेषण नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण के समय गोकुल की गोपियां झुंड बनाकर यमुना नदी में नहाने जाती थीं और नदी के एक निर्जन स्थान पर गोपियां पूरी तरह निर्वस्त्र हो, एक साथ स्नान किया करती थीं। हालांकि कदम के पेड़ों से ढंके यमुना के इस निर्जन स्थान पर इन गोपियों के ऐसे निर्वस्त्र स्नान पर किसी की नजर पड़ने की संभावना बहुत कम रहती थी, मगर यह पूरी तरह से असंभव कार्य भी नहीं था। श्रीकृष्ण स्वयं कदम पेड़ के पत्तों की ओट में छिपकर गोपियों के स्नान को जाने से पूर्व युमुना किनारे खोलकर रखे कपड़ों को छिपाकर साबित कर चुके हैं। इसके अलावा यह गोपियों को चेतावनी थी कि इस तरह एक नदी में पूरी तरह निर्वस्त्र होकर स्नान कर वे यमुना मैया का अपमान कर रही हैं। सच्चाई यह है कि इस घटनाक्रम के माध्यम से भगवान श्रीकृष्ण ने सार्वजनिक स्थान पर नग्नता के खिलाफ और सामाजिक सुरुचि की रक्षा के पक्ष में एक कड़ी चेतावनी दी थी। मगर अफसोस की बात है कि आज हमारे भारत में ही कुछ महिलाएं स्टाइल अथवा फैशन के नाम पर नग्नता को अपनाने में लगी हैं। वे अपनी समृद्ध परंपरा को भूलकर पाश्चात्य देशों के उस रंगीन आवरण को पहनना चाहती हैं, जो भारतीय

सोच-संस्कृति से मेल नहीं खाता। यह शिक्षा भगवान श्रीकृष्ण बहुत पहले ही हमें दे गए थे और आज हम उस शिक्षा का एक बार फिर स्मरण करते हैं। इसी तरह रासलीला और 16 हजार सुंदरियों के साथ विवाह करने की घटना में भी गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। अगाध भ्रांति और आध्यात्मिक शोध के बिना उस गूढ़ रहस्य को नहीं समझा जा सकता।

महाभारत का युद्ध अर्थात कुरूक्षेत्र की लड़ाई भगवान श्रीकृष्ण का अधर्म के विनाश का अंतिम स्वरूप है। उनके हाथों में धारण किए पांचजन्य शंख की ध्वनि के साथ ही इस युद्ध का शुभारंभ हुआ था। देखा जाए तो पांचजन्य की शंखध्वनि ही जैसे समाज के शत्रु, अन्याय और अन्यायियों के खिलाफ अंतिम ध्वंश-ध्वनि थी। कुरूक्षेत्र के धर्मयुद्ध के बाद अपने अभिमान के चलते ही खुद श्रीकृष्ण का यदुवंश भी नष्ट हो गया। धर्म की रक्षा के हित में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं के वंश को बचाने की भी कोशिश नहीं की। इसके बदले यदुवंश का नाश होने के कुछ ही दिन बाद भगवान स्वयं मानव तन धारण कर बैकुंठधाम को चले गए। क्योंकि द्वापर युग में भारत में धर्म स्थापना का कार्य अब समाप्त हो चुका था। श्रीकृष्ण के अंतर्ध्यान होने के साथ-साथ द्वापर युग का भी अंत हो गया और कलियुग ने प्रवेश किया। कलियुग के इस भयावह दौर में हम समाज के चारों ओर हजारों कंश, शिशुपाल, दुर्योधन, दु:शासन, राक्षस, असुर, दैत्य-दानवों को विचरते हुए देख रहे हैं। आज चारों ओर धर्म की क्षति और अधर्म की जय-जयकार हो रही है। ईमानदार, सच्चा, साधु और निरीह लोगों का जीना दुभर हो गया है। लिहाजा आम जनता आज कातर स्वर में प्रार्थना कर रही है कि अधर्म का विनाश करने और धर्म को पुनर्स्थापित करने के लिए, दुष्टों का विनाश करने के लिए, संतों का पालन करने के लिए एक बार फिर भगवान श्रीकृष्ण धरा पर अवतार लें, एक बार फिर एक कुरूक्षेत्र के रणक्षेत्र में एक विनाशक धर्मयुद्ध आयोजित हो, एक बार फिर जोर से बज उठे रण का पांचजन्य।

धर्म

धर्म की उत्पत्ति, विकास और जरूरत को लेकर दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में लंबे समय से कभी न खत्म होने वाला विवाद चलता आ रहा है। आस्तिक धर्म को भगवान अथवा ईश्वर के भेजे गए दूत द्वारा पृथ्वी पर बेहतर जीवन यापन के लिए की गई जरूरी व्यवस्था के तौर पर देखते हैं, जबकि नास्तिक सभी धर्म को समाज के एक खास तबके द्वारा आम जनता पर बिना किसी विवाद के शासन-शोषण करने की सुविधा के लिए निर्मित मार्ग के तौर पर देखते हैं। हालांकि इस संदर्भ में आस्तिक अपने विश्वास के पक्ष में कोई अकाट्य और सभी के लिए स्वीकार्य प्रमाण आज तक प्रस्तुत नहीं कर पाए हैं और नास्तिक भी अपनी बातों को स्थापित करने के लिए कोई खास दलील अभी तक जनता के सामने नहीं रख पाए हैं। इसलिए अपने असम जैसे राज्य में हम 'विश्वास मिलता ईश्वर से, तर्क करता उसे दूर' के आधार पर हम यह मानकर चल रहे हैं कि धर्म अथवा ईश्वर मनुष्य की साधारण सोच-चिंतन अथवा दलीलों में नहीं सिमट पाने वाला एक अस्तित्व है। दूसरी ओर यही मान्यता अथवा स्वीकृति हमारे जातीय या राष्ट्रीय जीवन का तत्त्व बनी हुई है। ईसाई अथवा इस्लाम धर्म सिर्फ उनके मार्ग द्वारा ही मनुष्य की मुक्ति संभव है, सोचकर एक कट्टर मतवाद पाले हुए हैं, उसके विपरीत हमारे भारतीय हिंदू धर्म में यह मान्यता व विश्वास है कि सभी मार्ग शुद्ध है और हर एक प्रकार की उपासना पद्धति के माध्यम से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए ईसाई उग्रवाद और इस्लामिक कट्टरवाद जब

पूरी दुनिया को तनावग्रस्त किए हुए है, वैसे में हिंदू धर्म अथवा हिंदू संस्कृति शांति में समाहित है। कारण, हिंदू धर्म स्वयं के अलावा दूसरों के मार्ग, मतवाद को सत्य व शुद्ध मानता है, लिहाजा हिंदुत्व के नाम पर कट्टरवाद पैदा हो ही नहीं सकता। इसलिए आजकल कुछ लोगों द्वारा प्रयोग की जा रही हिंदू कट्टरवाद की परिभाषा को पूरी तरह से एक गलत परिभाषा अथवा अवधारणा कही जा सकती है।

कुछ भी क्यों न हो, यह बात सही है कि भारत में हम कम-से-कम हिंदू धर्म को अंधविश्वास अथवा शासन-शोषण का अस्त्र बताकर उसका त्याग अथवा नजरअंदाज नहीं कर सकते, क्योंकि भारत में हिंदू धर्म इस देश के राष्ट्रीय जीवन के एक सांस्कृतिक अंग में बदल चुका है। हमारे यहां हिंदू धर्म सिर्फ एक उपासना पद्धति ही नहीं है, बल्कि राष्ट्रीयता अथवा भारतीयता के रूप में हिंदुत्व ही परवान चढ़ा है। क्योंकि हिंदू धर्म अब हमारी राष्ट्रीय संस्कृति में मिल चुका हैं। सभी मार्ग, सभी उपासना पद्धति शुद्ध हैं। हिंदू धर्म की धार्मिक सहनशीलता का यह आदर्श आज संपूर्ण भारतीय संस्कृति का आदर्श है। इसी आदर्श के कारण ईश्वर में विश्वास न करने वाले सावरकर जैसा व्यक्ति भारतीय हिंदू समाज का एक प्रमुख नेता बन पाया था। हिंदू धर्म का आदर्श 'जितने जीव, उतने शिव' एक भारतीय सांस्कृतिक आदर्श में बदल चुका है। हिंदू धर्म के वीर पुरुष श्री रामचंद्र समस्त भारत के लोगों के लिए भी आदर्श वीर पुरुष हैं। समस्त भारत और भारतीयों के आदर्श राजनीतिज्ञ भगवान श्रीकृष्ण हिंदू धर्म में विश्वास के एक युगपुरुष हैं। हिंदू धर्म का वैदिक साहित्य, महाकाव्य, भागवत गीता आदि समस्त भारत के सांस्कृतिक जीवन से अलग न हो पाने वाले एक समृद्ध अंग हैं। विश्व के अन्य हिस्सों के साथ-साथ भारत में भी कुछ हद तक धार्मिक उन्माद देखने को मिलता है। मुख्य रूप से कुछ लोगों द्वारा भारतीय हिंदू संस्कृति को अपनी संस्कृति के रूप में स्वीकार नहीं करने के अथवा नहीं मानने के कारण धार्मिक असहिष्णुता अथवा धार्मिक टकराव इस देश की मिट्टी में पनपने लगा है। ऐसी स्थिति में भारतीय सभ्यता की मूल संचालन शक्ति हिंदू धर्म ही इस देश की रक्षा कर सकता है।

गैर पेशेवर नाट्य-गोष्ठी और हमारा समाज

दुनिया के विभिन्न देश और समाज में विभिन्न अंग जन-माध्यम की भूमिका निभाते हैं। इनमें से कोई एक अंग सबसे शक्तिशाली जन-माध्यम के रूप में विकसित होता है। किसी देश अथवा समाज में यदि साहित्य सबसे अधिक शक्तिशाली जन-माध्यम की भूमिका निभा रहा है तो किसी देश या समाज में हो सकता है सिनेमा सर्वाधिक ताकतवर जन-माध्यम की भूमिका का निर्वाह करने में लगा है। कहीं हो सकता है पत्रकारिता ही सबसे अधिक शक्तिशाली जन-माध्यम बनी हुई है और वैसे देश-समाज में समाचारपत्र-पत्रकारिता ही समाज के आदर्श और भावनाओं की मुख्य वाहक होते हैं। हमारे असमिया समाज में जन-माध्यम का स्वरूप भी समय के साथ-साथ बदलता रहा है। वास्तव में अंग्रेजों के आगमन से पहले तक असम में आधुनिक तरीके के जन-माध्यम की सोच नहीं थी। मगर मध्यकालीन असम में महापुरुष शंकरदेव अपने नव वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए वैष्णवी साहित्य और बरगीत-भाउना जैसे वैष्णव धर्मीय सांस्कृतिक उपादानों को समाज में शक्तिशाली जन-माध्यम के रूप में स्थापित कर पाने में सफल रहे थे। आधुनिक युग में अर्थात् आहोम के शासनकाल के बाद के समय में जब अंग्रेजों के शासनकाल में मिशनरियों की प्रयासों से असम में 'अरुणोदय' पत्रिका का जन्म हुआ, उसके बाद से ही सच कहें तो असमिया

शिक्षित समाज को आधुनिक जन-माध्यम का स्वाद चखने का मौका मिला। उस दौर से लेकर 'आवाहन' पत्रिका के युग तक पत्रिकाएं ही असम में मुख्य भूमिका निभाती रहीं। 'आवाहन' पत्रिका बंद हो जाने के बाद कार्यत: असम में एक ताकतवर जन-माध्यम की कमी महसूस की जाने लगी। छह साल के असम आंदोलन के दिनों से ही असम में समाचारपत्र एक शक्तिशाली जन-माध्यम की भूमिका का निर्वाह करने में सफल रहे हैं। हालांकि समाचारपत्र उस प्रकार के शक्तिशाली जन-माध्यम की भूमिका निभाने में सफल रहने और समाचारपत्रों की संख्या में भारी बढ़ोतरी होने के बावजूद असम में अभी तक यह उतने शक्तिशाली जन-माध्यम के रूप में स्थापित नहीं हो पाया है, जितने ताकतवर जन-माध्यम के रूप में राज्य के भ्राम्यमान थिएटर (मोबाइल थिएटर) गोष्ठियां अपनी जड़ें जमा पाने में सफल रही हैं। आज के दिन असम में भ्राम्यमान थिएटर गोष्ठियां जितनी शक्तिशाली अथवा जनप्रिय हैं संभवत: उतनी शक्तिशाली और जनप्रिय थिएटर गोष्ठी दुनिया में और कहीं नहीं होगी। सच में भ्राम्यमान थिएटर के प्रेक्षागृह में जिस गति से जन सैलाब उमड़ता है, उस गति की कल्पना कर पाना भी मुश्किल है। हो सकता है महापुरुष शंकरदेव असमिया जाति के बीच जिस सांस्कृतिक मन-प्राण की स्थापना कर गए हैं, वह मन और प्राण अभी भी सक्रिय हैं, जिसकी वजह से असमिया लोग आज भी समाचारपत्रों से अधिक भ्राम्यमान थिएटर के मंच के प्रति आकर्षण महसूस करते हैं। नि:संदेह एक समाज के लिए यह एक सकारात्मक बात है, मगर दुख की बात यह भी है कि असम के भ्राम्यमान थिएटरों को समाज की समस्या, हताशा, उम्मीदें, इतिहास आदि को मंचित करने में जिस प्रकार अपनी लोकप्रियता को काम में लगाना चाहिए था, उस तरह से लोकप्रियता को काम में नहीं लगाया जा सका है। विशेष रूप से पिछले कुछ सालों से देखा जा रहा है कि भ्राम्यमान थिएटर गोष्ठियों ने अपनी लोकप्रियता को स्वयं ही सस्ती लोकप्रियता में बदल दिया है। लिहाजा राज्य अथवा असमिया समाज का सर्वाधिक शक्तिशाली जन-माध्यम होकर भी लगता है असम की भ्राम्यमान थिएटर गोष्ठियां अपनी भूमिकाओं का सटीक ढंग से निर्वाह नहीं कर पाई हैं। इसीलिए ऐसी एक स्थिति में असम के गैर पेशेवर नाट्यगोष्ठी का प्रसंग पुन: सजीव हो उठा है। यह कहना ही होगा कि असम में जिस तरह भ्राम्यमान थिएटर की शक्तिशाली परंपरा है, वैसी ही गैर पेशेवर नाट्यगोष्ठी की भी एक शक्तिशाली परंपरा थी। विद्रोही कलाकार ब्रज शर्मा आदि जैसे लोगों ने समाज और समय की मांग को पूरा करने के लिए ऐसी एक परंपरा को जन्म दिया था। मगर लोकतांत्रिक समाज व्यवस्था के

चक्कर में उलझ यह परंपरा गुम-सी हो गई है। यहां कह सकते हैं कि पेशेवर नाट्यगोष्ठी अथवा भ्राम्यमान थिएटर गोष्ठियां अपने पेशे अथवा व्यापारिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए विभिन्न तरीकों से समाज से अपना फायदा हासिल करती हैं। इस मामले में उनके लिए सामाजिक जिम्मेदारियां गौण और व्यावसायिक फायदा मुख्य हो जाता है। मगर गैर पेशेवर नाट्य गोष्ठियां समाज की आशा-उम्मीदों पर रोशनी डालने अथवा सामाजिक समस्याओं को मंचित करने को ही सर्वाधिक महत्त्व देती हैं। वह लोग समाज का ही काम करते हैं, मगर समाज से फायदा हासिल करना उन लोगों का मुख्य मकसद नहीं होता। ऐसी नाट्य गोष्ठियों से जुड़े लोगों में समाज के प्रति जागरूकता का भाव लिए एक कलाकार का दिल ही रहता है, व्यापारिक पेशादारी नहीं रहती है। लिहाजा ऐसी नाट्य गोष्ठियों को जिंदा रखना समाज की ही मुख्य जिम्मेदारी होती है। मगर दुर्भाग्य की बात है कि असमिया समाज लगता है अपनी उस जिम्मेदारी के पालन करने की नीयत खो चुका है। ब्लैक में 100-150 रुपए में टिकट खरीदकर भ्राम्यमान थिएटर के अर्थहीन, बेमतलब के नाटक देखने के लिए धक्का-मुक्की करने वाले असमिया दर्शक लेकिन गैर पेशेवर नाट्य गोष्ठी द्वारा मंचित नाटक देखने के नाम पर टिकट खरीदने के लिए अपनी जेब से 20 रुपए भी खर्च नहीं करना चाहते। जिसके फलस्वरूप आज असम का गैर पेशेवर नाट्य आंदोलन अपनी अंतिम सांसें गिन रहा है। ठीक से यदि देखा जाए तो असम का सिनेमा उद्योग भी विभिन्न कारणों के चलते ठीक तरह से पनप नहीं पा रहा है। ऐसे यदि गैर पेशेवर नाट्य आंदोलन को ठीक से खड़ा नहीं किया गया तो यहां लोक-संस्कृति के नाम पर कुछ भी बचा नहीं रह जाएगा।

पुस्तक मेला आंदोलन

असम में ग्रीष्मकाल का मतलब ही है एक लंबी आपदाग्रस्त ऋतु। सूर्य की तेज धूप, प्रचंड गर्मी, असहनीय आर्द्रता और एक जलता-सुलगता माहौल। बाद में जैसे-जैसे गर्मी की तपिश कम होने को आती है, बाढ़ और कटाव का तांडव शुरू हो जाता है। गुवाहाटी महानगर के अलावा राज्य के लगभग सभी नगरीय क्षेत्रों में पानी भर जाता है और यह बरसात जन्म देती है कृत्रिम बाढ़ की भयावहता को। चारों ओर गंदगी भरा माहौल और एक नारकीय स्थिति पैदा हो जाती है।

मगर ठंड के आते-आते मौसम में अचानक अभूतपूर्व बदलाव दिखने लगता है। ग्रीष्म और बरसात दोनों के विदा लेते ही असम में गर्मी, बाढ़ और बरसात सभी का प्रकोप कम हो जाता है। रास्तों पर ठहरा पानी सूखने लगता है। किसान खेती करने में लग जाते हैं और ग्रामीण असम में एक समृद्धि का माहौल दिखने लगता है। लोगों के आवास परिसर में बने बगीचों में रंग-बिरंगे फूल खिलने लगते हैं और बाजार भी विभिन्न प्रकार की साग-सब्जियों से भर जाते हैं। ओस और कुहासा एक मायावी संसार की रचना करने लगते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि इसी शीतकाल में असम में पुस्तक मेले के मौसम की भी शुरुआत होती है। खुले प्रांगण में, एक विस्तृत परिवेश में सैकड़ों लोगों की भीड़ के बीच असम में आयोजित ऐसे पुस्तक मेले जिस तरह मादकता से भरे एक माहौल की रचना करते हैं, बिना देखे उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जर्मन के फ्रेंकफुर्ट में विश्व पुस्तक मेले का माहौल देखकर आने के बाद चंद्रप्रकाश सइकिया ने असम में पुस्तक मेला आंदोलन की शुरुआत की थी। असम प्रकाशन परिषद के माध्यम से उन्होंने गुवाहाटी पुस्तक मेले की शुरुआत की। यह 80 के दशक के मध्य की बात है। उसके बाद करीब तीन दशक गुजर गए, मगर इस दौरान असम पुस्तक मेला आंदोलन को कोई खास गति हासिल नहीं हुई। इसी अवधि में पूरे धूमधाम से पूर्वोत्तर पुस्तक मेला भी शुरू किया गया। इन पुस्तक मेलों में सक्रिय रूप से शामिल होने के लिए बाहरी राज्यों से विभिन्न प्रकाशन संस्थान भी आने लगे और इसी तरह राज्य में एक नई क्रांति, एक नए बौद्धिक आंदोलन, चिंतन के विप्लव की शुरुआत हुई।

मगर इतना कुछ होने के बावजूद जैसे असम का पुस्तक मेला आंदोलन मुख्य रूप से गुवाहाटी केंद्रित होकर ही रह गया। इस बात से भी इनकार नहीं है कि पिछले कई सालों में असम के अन्य जिलों व शहर-नगरों में भी विभिन्न संगठनों द्वारा छोटे-बड़े पुस्तक मेलों का आयोजन किया जाने लगा है। 'अन्वेषा' जैसे संगठन ऐसे पुस्तक मेलों को आयोजित किए जाने के मामले में बढ़-चढ़कर भाग ले रहे हैं और इस प्रकार के पुस्तक मेलों को भारी लोकप्रियता भी मिल रही है। इसके बावजूद दायरे के हिसाब से अगर देखें तो गुवाहाटी पुस्तक मेला अथवा पूर्वोत्तर पुस्तक मेलों जैसे बड़े मेले सिर्फ गुवाहाटी तक ही सीमित नजर आते हैं। मगर इसका मतलब यह भी नहीं लगाया जा सकता कि गुवाहाटी से बाहर पुस्तकें पढ़ने वाले पाठकों की संख्या कम है। देखा जाए तो स्थिति इससे उलट ही है, राज्य के अन्य हिस्सों में पुस्तक पढ़ने वालों की संख्या गुवाहाटी के पुस्तक-पाठकों से अधिक ही बैठेगी। गुवाहाटी पुस्तक मेले अथवा पूर्वोत्तर पुस्तक मेले में आने वाले दर्शक-पाठक-खरीददारों का एक बड़ा तबका गुवाहाटी के बाहर का होता है, जो अपनी जेब से पैसे खर्च कर रेल-मोटर की यात्रा की तकलीफें सहते हुए कुछ अच्छी-मनचाही पुस्तकें देखने-खरीदने के लोभ में इन पुस्तक मेलों में आता है। लिहाजा गुवाहाटी के बाहर से आने वाले ऐसे पुस्तक प्रेमियों के बारे में भी असम प्रकाशन परिषद, पुस्तक विक्रेता और प्रकाशन संस्थानों को जरूर सोचना चाहिए।

आज असम का सामाजिक जीवन बेहद अशांत है। सामाजिक अशांति, अस्थिरता आदि ने जन-जीवन बुरी तरह से प्रभावित किया है। भोगवाद की प्रचुरता ने मूल्यबोध की प्रासंगिकता को खत्म कर दिया है। ऐसी स्थिति में पुस्तक मेला आंदोलन बड़ी तेजी से खत्म होते जा रहे मूल्यबोध को जिंदा रखने और एक स्थिर, शांतिपूर्ण सामाजिक माहौल बनाने में अग्रणी भूमिका निभा सकता है। इस नजरिए से भी पुस्तक मेला आंदोलन का राज्य के दूर-दराज के विभिन्न हिस्सों तक पहुंचना बेहद जरूरी है, क्योंकि असम के विभिन्न छोटे-बड़े नगरीय-ग्रामीण क्षेत्र समाज विरोधी ताकतों का केंद्र बने हुए हैं। इसी वजह से ऐसे स्थानों की सामाजिक स्थिरता खतरे में पड़ी हुई है। राज्य के महानगरीय क्षेत्र के वैसे ही अंचलों के अत्यधिक हताशाग्रस्त युवक हथियार उठाने लगे हैं। लिहाजा, वैसी जगहों पर हमें बौद्धिक आंदोलन अथवा चिंतन क्रांति की जरूरत है। बर्नार्ड लेविन के अनुसार मानव जाति का अभी तक उच्चारित महान शब्द पुस्तक ही है। उनका यह कथन शब्दशः सही है, इस बारे में किसी को भी शंका नहीं है और यदि बर्नार्ड लेविन की बात सच ही है तो उनकी यह महान उक्ति राज्य के कोने-कोने में एक समान ध्वनि से गूंजनी चाहिए।

युगसंधि के जटिल क्षण में रंगाली बिहू

बदलाव एक अपरिवर्तनशील घटना है। यह पूरा विश्व ही परिवर्तनशील है। परिवर्तन के कंधे पर ही सवार होकर प्रगति आती है और इंसान आगे बढ़ता है। मानव-समाज, संस्कृति, सभ्यता सब परिवर्तनशील हैं। अर्थात् परिवर्तन द्वारा खोली गई खिड़की से होकर ही विकास का आगमन होता है। यह जरूरी नहीं कि सभी परिवर्तन विकासोन्मुखी ही हों, कभी-कभी परिरवर्तन अपने साथ विनाश लेकर भी आता है। जो परिवर्तन अपने साथ विनाश लेकर आता है, वैसा परिवर्तन समाज अथवा इंसान कोई नहीं चाहता। रंगाली बिहू के मौके पर हरबार फिर रंगाली बिहू में आए बदलाव का मसला प्रासांगिक हो उठता है।

असम के जातीय त्योहार, असमिया लोगों की खास पहचान को बनाए रखने वाले रंगाली बिहू में भी भारी बदलाव आया है। परिवर्तन की लहर ने रंगाली बिहू को थोड़ा अधिक ही स्पर्श किया है। हो सकता है बड़े पेड़ों में जल्द ही हवा लग जाने की तरह सात दिन तक मनाए जाने वाले सर्वाधिक रंगीनियों से भरपूर रंगाली बिहू को भी परिवर्तन की कुछ ज्यादा ही हवा लग गई है। यह परिवर्तन भी ऐसा है कि सीधा नजरों में खटकता है। खेत-खलिहानों और मैदानों में मनाई जाने वाला बिहू आज मंच तक पहुंच गया है। एक समय ढोल की जो दमदार आवाज बरगद के छांव भरे स्थान में गूंजा करती थी, आज उसी ढोल की आवाज से मंच और प्रेक्षागृह कंपित रहते हैं।

पहले युवक-युवतियों का स्वत:स्फूर्त बिहू गीत-नृत्य अब प्रतियोगिता के दौर में प्रवेश कर चुका है। बिहू के साथ-साथ 'सना-पोटोका' भी कारपोरेट वर्ल्ड हो गए। लिहाजा बिहू प्रतियोगिताओं में पुरस्कार राशि में भी भारी बढ़ोतरी देखने को मिलने लगी है। दूसरी ओर पेशेवर गायक-गायिकाओं को आमंत्रित कर बिहू कार्यक्रम में गीत-संगीत प्रस्तुत करने की एक नई अथवा समानांतराल परंपरा शुरू हुई। मंच पर ये गायक-गायिका किस तरह के गीत गाएंगे, उस पर किसी प्रकार का नियंत्रण न रहना भी मानो एक नियम बन गया। कभी-कभी बिहू के मंच पर अपसांस्कृतिक गीत-बोल भी गूंजने लगे। यह कहना ही पड़ेगा कि इन सब बातों का बिहू के बीच आना एक ऐसा परिवर्तन है, जिसकी किसी ने भी अपेक्षा नहीं की थी।

इसी तरह बिहू की अन्य परंपराओं में भी परिवर्तन आया है। एक समय असम के घर-घर में तांतशाल की व्यस्तता लोगों को बोहाग बिहू के आगमन का पैगाम देती थी, जो आज के दिन एक अनपहचाना दृश्य बनकर रह गई है। अब तो बाजार से खरीदे गए गमछे से ही बिहूवान आदान-प्रदान की परंपरा का निर्वाह हो जाता है। आज की अधिकांश असमिया युवती-बहुओं का तांतशाल के साथ कोई संबंध नहीं है अथवा परिवर्तित जीवन-यात्रा में वे तांतशाल के साथ संबंध नहीं रख पाई हैं। असम के अधिकांश घरों में भी आज के दिन तांत घर की कमी देखने को मिलती है। इसीलिए बाजारों में बिकने वाला बिहूवान भी अब असम के बाहरी राज्यों से आने लगा है। क्या सिर्फ बिहूवान ही असम के बाहरी राज्यों से आ रहा है? उस दिन एक टेलीविजन चैनल के समाचार में सुना था कि ढोल, पेपा, गगना भी कहें तो अब असम के बाहर से ही मंगवाए जा रहे हैं और असम में इन सब वस्तुओं का उत्पादन करने वाले कारीगर भी गैर असमिया बताए जा रहे हैं। इसी तरह बिहू के लाडू-पीठा भी आजकल दुकान के शो-केस में रखे पैकेटों में आते हैं। बाजार में बिहू गीत-नृत्य के कैसेट-सीडी की भरमार है।

सबसे बड़ी चिंता अथवा सोचने लायक बात यह है कि बिहू नृत्य करने वाली 'बिहूनाचनी' के केश विन्यास के लिए सबसे जरूरी समझे जाने वाले कपौ फूल (पेड़ों पर लगने वाला एक प्रकार का आर्किड फूल) आज देखने को नहीं मिलता, उसकी जगह बाहरी राज्यों के मंगवाए जाने वाले प्लास्टिक से बने कपौ फूल ने ले ली है।

नि:संदेह यह सभी परिवर्तन के लक्षण हैं। ऐसे सभी परिवर्तन चिंता, चिंतन और मन को विचलित कर देने वाले हैं। हमने पहले ही कहा है कि परिवर्तन एक ऐसा

घटनाक्रम है, जिससे कतई बचा नहीं जा सकता। जब इस दुनिया का सब कुछ ही परिवर्तनशील है, वैसी स्थिति में बिहू को बदलाव की हवा की चपेट में आने से नहीं बचाया जा सकता। इस संदर्भ में हम बस यही कहना चाहते हैं कि सभी प्रकार के परिवर्तन स्वास्थ्यकर अथवा स्वीकार्य नहीं भी हो सकते हैं।

आज की असमिया की जीवन-यात्रा और सौ वर्ष पहले की असमिया जीवन-यात्रा एक जैसी नहीं है। पहले वाली असमिया सामाजिक व्यवस्था भी बदली है। आज की असमिया युवती-महिलाएं घर में घुसकर नहीं रहतीं अथवा उनके घर में रहना संभव भी नहीं है। एक समय पूरी तरह से कृषि आधारित असमिया समाज व्यवस्था में आज उद्योग व सेवा क्षेत्र ने व्यापक रूप में अपनी जगह बना ली है। ऐसी स्थिति में असमिया युवती-महिलाएं आज के दिन बिहू के मौके पर अपने तांतशाल में गमछा बुनकर तैयार नहीं कर सकतीं। ठीक इसी तरह बिहू का पीठा बनाने के लिए वह रसोईघर में भी नहीं घुस सकतीं। ऐसी परिस्थितियों में बाजार की शरण में जाना निश्चय ही अपराध करने जैसी बात नहीं हो सकती। मगर ऐसे मामलों में बाजार की ऐसी सामग्री स्थानीय स्तर पर, स्थानीय लोगों द्वारा यदि बनाई जाए और बिहू के नाम पर राज्य के पैसे यदि बाहरी राज्यों में न जाए तो यह निश्चय ही अच्छी बात होगी। बिहू नृत्य का मंच तक पहुंचना, बिहू गीत के लिए कैसेट, सीडी की शरण में जाना अपराध नहीं है, यदि बिहू नृत्य-गीत में किसी प्रकार की कोई विकृति न हो। लेकिन असम से कपौ फूल का विलुप्त हो जाना और इसके फलस्वरूप बाहर से मंगवाए गए प्लास्टिक के कपौ फूलों से बिहू नृत्यांगनाओं के जुड़े को सजाए जाने की घटना वेदनादायक ही नहीं, शर्मनाक भी है। ऐसे बदलाव निश्चय ही स्वीकार्य नहीं हो सकते। जिस असम की जलवायु आर्किड के लिए सर्वाधिक उपयोगी है, जहां थोड़ी-सी कोशिश से सुंदर कपौ फूल उगाए जा सकते हैं, वहां कपौ फूल की इस तरह की किल्लत को देख हमें महसूस होता है कि यह हमारी जातीय मानसिकता में हो रहे क्षरण की ओर इशारा है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी बिहू के भविष्य पर भी हमें संदेह होने लगता है।

लोकतंत्र की औपचारिकता

एक बार फिर चकाचौंध के बीच भारत का लोकतंत्र दिवस मनाया गया। एक बार फिर नई दिल्ली का राजमार्ग देश की सामरिक शक्ति और सांस्कृतिक समृद्धि से चमक उठा। विश्व भर से करोड़ों लोगों ने नई दिल्ली के राजमार्ग पर प्रस्तुत इस विहंगम दृश्य को निहारा और भारतीय लोकतंत्र की ताकत और इसकी सार्थकता को एक बार फिर स्वीकार किया। सचमुच हमारे इस लोकतंत्र में असीम शक्ति है। लगभग सवा सौ करोड़ लोगों का देश है यह। इसकी आधी से अधिक आबादी निरक्षरता के अंधेरे में डूबी है। आधे से अधिक लोग भुखमरी के शिकार हैं। फिर भी इस देश में पिछले करीब 60 साल से लोकतंत्र का राज है। ऊपरी तौर पर देखने पर ऐसा लगता है कि इस देश में कब की सैन्य कार्रवाई हो जानी चाहिए थी अथवा उस प्रकार के अन्य कोई घटनाक्रम से भारत का लोकतंत्र नाकाम हो जाना चाहिए था। वास्तव में भारत समसामयिक तौर पर एशिया, अफ्रीका के जितने भी यूरोपीयन उपनिवेशों ने स्वाधीनता हासिल कर देश के रूप में आत्म-प्रतिष्ठित किया था, उनमें से लगभग सभी देशों ने लोकतंत्र को ही शासन-व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया था। इनमें से प्राय: सभी देश बाद में या तो सैन्य कार्रवाई का शिकार हुए अथवा एक अंतहीन

गृहयुद्ध के मकड़जाल में फंस गए। मगर इनके बीच भारतीय लोकतंत्र ही सफलता के ध्वज को फहराए रखने में कामयाब रहा। इसकी एकमात्र वजह थी हमारा लोकतांत्रिक इतिहास। वैदिक युग से ही हिंदू सभ्यता-संस्कृति ने भारत में लोकतांत्रिक मूल्यों को जिंदा रखा है। जिस वक्त यूरोपीय लोगों को सभ्यता के बारे में भी कोई जानकारी नहीं थी, जिनके लिए राजनीति, समाज-नीति, अर्थनीति आदि शब्द पूरी तरह अपरिचित थे, उस समय हमारे ऋषि-मुनियों ने एक प्रकार की लोकतांत्रिक शक्ति का बीज इस देश की जमीन में बोया था। उसी का प्रभाव है कि भारतवर्ष में बेहद प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच आज भी लोकतंत्र जिंदा है। मगर क्या यह सचमुच में जिंदा है या फिर लोकतंत्र की औपचारिकताएं ही जिंदा हैं। सिर्फपांच वर्ष अथवा उससे कम समय के अंतराल पर देश के बालिग नागरिकों को मतदान करने का अधिकार मिल जाना ही लोकतंत्र नहीं है। देश में सच्चा लोकतंत्र स्थापित करना हो तो देश के अधिकांश नागरिकों को गरीबी, निरक्षरता, कुरीतियों से मुक्त होना होगा। स्वाधीनता हासिल किए जाने के 60 साल गुजर जाने के बाद भी यह काम पूरा नहीं हुआ है। यह काम पूरा नहीं हो सका सरकारी, गैर-सरकारी स्तर पर व्याप्त भ्रष्टचार की वजह से, देश के कर्णधारों में देशप्रेम की कमी की वजह से। इसलिए लोकतंत्र अपनी स्थापना की आधी सदी के बाद भी भारत में हकीकत का रूप नहीं ले पाया है। सिर्फ लोकतंत्र दिवस की चकाचौंध, पैरेड आदि की औपचारिकताओं में ही जिंदा है लोकतंत्र।

नववर्ष का अनुभव और विश्वास

समय बड़ा ही निष्ठुर होता है, क्योंकि यह किसी के लिए ठहरता नहीं है। गतिवान समय हमेशा आगे की ओर ही बढ़ता है। पीछे की ओर मुड़कर देखने का वक्त नहीं है। अनादि-अनंत काल से ही मनुष्य इस प्रवाह के साथ मिला हुआ है। इस प्रवाह की विपरीत दिशा में जाने का साहस किसी में भी नहीं है। समय में कोई नवीनता नहीं है। अतीत हो चुका समय पुराना नहीं पड़ता और भविष्य के समय में कोई नयापन नहीं होता। ऐसी स्थिति में विश्वभर में नव-वर्ष के स्वागत के लिए इतनी उत्कंठा-उत्साह क्यों ? इस विशेष क्षण के लिए विश्व भर में उमंग-आनंद का माहौल बना हुआ है। नव-वर्ष को लेकर कितनी उम्मीदें हैं। सभी की यही कामना है कि नया साल जीवन में सुख और शांति लेकर आए, जबकि इस विशेष क्षण के गुजरते ही हम अपने संकल्पों को भूल जातें हैं और इसी तरह एक साल गुजर जाता है। फिर हम सभी अन्य एक वर्ष के विशेष क्षण का स्वागत करने में व्यस्त हो जाते हैं। यह प्रक्रिया परंपरागत तरीके से चली आ रही है और आगे भविष्य में भी चलती रहेगी।

पुराने साल और नव-वर्ष के बीच के समय में क्या कोई रुकावट है? यह सभी के लिए एक जटिल प्रश्न है, क्योंकि समय की रुकावट का निर्णय करना एक कठिन कार्य है। चूंकि समय की रुकावट का निरूपण करना दुरुह कार्य है, लिहाजा पुराने साल को विदा कर नव-वर्ष को अपनाते वक्त हमने कभी सोचा है कि क्या समय किसी एक संधि-बेला में स्तब्ध भी होता होगा? यह मसला नई बोतल में पुरानी शराब जैसा है।

नव-वर्ष के उमंग-उल्लास में बावले होकर बहुत लोग नहीं करने वाले काम भी करते हैं। क्या उन लोगों का नव-वर्ष अच्छी तरह से गुजर सकता है। कोई भी काम तय समय में खत्म करना चाहिए। नहीं तो उन्नति असंभव है। इसीलिए इंसान वर्ष का निर्दिष्ट समय तय कर लेता है। विश्व का घटना-प्रवाह भी उसी तरह से चल रहा है। सकारात्मक चिंतन के साथ नव-वर्ष का स्वागत करना होगा। नृत्य के नाम पर उछल-कूद, कानफोडू संगीत और कीमती उपहार आदि नव-वर्ष के स्वागत का आधार नहीं हो सकते। इसलिए नव-वर्ष के स्वागत के नाम पर दिखावा-आडंबर प्रदर्शन करने के वनिस्पत, उचित है कि मूल्यबोध को ही महत्त्व दिया जाए। हम सभी को समय का सम्मान करना सीखना होगा, यह विशेष क्षण सिर्फ आनंद-उमंग के लिए ही नहीं है।

नववर्ष का संकल्प और कुछ प्रासंगिक चिंतन

नए साल के पहले दिन अर्थात् एक जनवरी को नया संकल्प लेना एक प्रकार की परंपरा बन चुकी है। इस दिन संकल्प लेने वाले हर किसी के मन में यह भावना रहती है कि साल के अन्य सभी दिन वह सारे संकल्प पूरे होंगे। मगर वर्ष के अन्य किसी दिन क्या कोई इस बात पर चिंतन करता है कि यह संकल्प वक्त पर पूरे होते हैं या नहीं? निश्चय ही कोई ऐसा चिंतन नहीं करता। इसे एक प्रकार का प्रहसन कहा जा सकता है। सरकार कहती है नए साल में जनता की उन्नति होगी। ग्राम-कस्बों में सड़क-रास्ते बनेंगे। किसानों के कष्ट दूर होंगे। चारों दिशाएं रोशनी से जगमगा उठेंगी। चारों ओर शांति के वातावरण का सृजन होगा। सभी ऐसे माहौल की आशा करते हैं। अब कोई भी राम राज्य स्थापित किए जाने जैसी कपोल-कल्पना नहीं करता, मगर एक शांतिमय माहौल में साल के गुजर जाने की कामना जरूर करता है। नवीन का स्वागत करना प्रकृति का नियम है। नए साल में पेड़ों पर नए पत्ते आते हैं। पक्षी भी साल के किसी भी दिन एक निर्धारित वक्त पर झुंड की शक्ल में एक स्थान से दूसरे स्थान के प्रवास पर निकलते हैं। क्या इसके पीछे नए माहौल की खोज का मसला नहीं जुड़ा है। हालांकि विश्व के विभिन्न हिस्सों में प्राकृतिक कारणों से अलग-अलग समय पर प्रकृति अपने विभिन्न रूप धारण करती है। एशिया महादेश में जब कड़ाके की ठंड रहती है, तब अफ्रीकी महादेश में हड्डियों को जमा देने वाली ऐसी

ठंड का अनुभव नहीं होता। कहीं जब पानी सूख रहा होता है तो कहीं बर्फ गलती हुई नजर आती है। यही प्रकृति का नियम है। प्रकृति के नियम में किसी भी प्रकार का बदलाव नहीं आया है। मगर मानव-सृजन नियम के मामलों में ऐसी छवि नहीं दिखती।

पहली जनवरी को कुछ करने का संकल्प सभी लेते हैं। हम यदि सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साल के किसी एक दिन एक विशेष बदलाव की उम्मीद नहीं की जा सकती। साल के एक विशेष क्षण में ऐसे बदलाव की उम्मीद करने को क्या हम एक समझदार व्यक्ति द्वारा की गई उम्मीद कह सकते हैं। सकारात्मक नजरिए अथवा मानसिकता के लिए एक खास दिन से बदलाव की उम्मीद करने पर उसके नतीजे कितने आशाजनक होंगे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। हम सभी 31 दिसंबर की रात के 12 बजते-बजते एक-दूसरों को नए साल की शुभकामनाएं देते हैं। नए साल के स्वागत के लिए रात भर जागना, सागर के किनारे अथाह नीली जलराशि के मंत्रमुग्ध कर देने वाले दृश्य का आनंद उठाना, पार्क में दिन गुजारना, नई जगहों पर घूमने जाना, होटल-रेस्त्रां आदि में पार्टी करने आदि का सिलसिला शुरू हो जाता है। नई उम्मीदों को दिल में लिए नए साल के स्वागत के आनंद-क्षणों में किसी के जीवन में दुख और विलाप की कहानी भी शुरू हो जाती है। सड़क दुर्घटना, हत्या, बलात्कार, अपहरण, सुरक्षाकर्मियों पर हमला आदि घटनाएं भी घटती हैं। इस प्रकार की घटनाएं पिछले कई वर्षों से घटती आ रही हैं। लिहाजा नए साल के पहले दिन ऐसी घटनाएं न घटें, इसके लिए हम कितने भी संकल्प क्यों न लें, जब तक खुद को सुधारा नहीं जाता, तब तक ऐसे बदलाव आने असंभव हैं। इसीलिए कहता हूं - पहली जनवरी, एक विशेष दिन होने पर भी इसी दिन सभी प्रकार के बदलाव पूरे होंगे, यह उम्मीद पालने से तो बेहतर है कि साल के हर एक दिन को नए स्वरूप में ढालने की कोशिश की जाए। सूर्यास्त के बाद सूर्योदय। नए साल का स्वागत करने के मामले में भी एक ही नियम है। एक विशेष दिन समय को नहीं बदल सकता, क्योंकि समय के रण-अश्व की पीठ पर चढ़ने के लिए समय का सम्मान करना ही होगा।

पुस्तक मेले की भी है जातीय जिम्मेदारी

पुस्तक और मेला, यदि वाचन के नजरिए से देखा जाए तो इन दोनों शब्दों के बीच लगता है जैसे कोई मेल नहीं है। पुस्तक शब्द का जिक्र आते ही हमारे मन में एक गहन-गंभीर अध्ययन का माहौल उभरकर आता है, जबकि मेला शब्द से हमारे दिल में एक उत्सवमुखी कोलाहल भरे वातावरण की छवि उभरती है। फिर भी इंसान पुस्तक मेला, पुस्तकों को केंद्र में रखकर मेला, पुस्तक मेले का आयोजन करता है। क्योंकि मेलामुखी अथवा उत्सवमुखी माहौल बड़ी सहजता से लोगों को अपनी ओर आकर्षित करता है। यह लोगों को एक नवीनता प्रदान करता है। इंसान को परेशानी से भरे माहौल से उबारकर एक ऊर्जापूर्ण माहौल देता है। आमतौर पर अन्य सामग्री के विपरीत पुस्तक एक बौद्धिक सामग्री होने की वजह से अन्य वस्तुओं की तुलना में पुस्तक के प्रति लोगों का आकर्षण, विशेषकर आमलोगों का आकर्षण कुछ कम रहता है। पुस्तक मेला उस कम आकर्षण की कमी को काफी हद तक पूरा कर देता है।

पिछले कई सालों में हमारे असम में भी पुस्तक मेलों की संख्या में भारी बढ़ोतरी देखने को मिल रही है। जर्मन के फ्रैंकफर्ट में विश्व पुस्तक मेला देखकर आने के बाद चंद्रप्रकाश सइकिया द्वारा असम में भी पुस्तक मेले का आयोजन किए जाने के बाद से लगता है असम की जनता ने पुस्तक मेले को व्यापक रूप में स्वीकार कर लिया है। बाढ़, कटाव, कानून व्यवस्था जैसी स्थितियों की जटिलता आदि असम की आर्थिक स्थिति को विध्वस्त और असमवासियों को आर्थिक तौर पर कमजोर करने पर भी हर एक पुस्तक मेले में न्यूनतम दर्शक-खरीददारों का तो सहयोग नजर आता ही है। हो सकता है पहले गुवाहाटी में शुरू हुए पुस्तक मेले की सफलता से उत्साहित होकर ही आजकल विभिन्न संगठन छोटे-छोटे शहर-नगरों के अलावा असम के गांवों में पुस्तक मेलों का आयोजन करने लगे हैं और वैसे पुस्तक मेले दर्शक-खरीददारों से भरपूर सहयोग हासिल करने में भी कामयाब हुए हैं।

पूर्वोत्तर पुस्तक मेले ने असम के पुस्तक मेले की अवधारणा में एक नई सोच पैदा

की है। इसने पुस्तक मेले में एक प्रकार की होड़ ला दी है। इसके अलावा इसने असम के पुस्तक मेले को अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक ला दिया है। असमवासी पुस्तकप्रेमियों के लिए यह एक नई बात है। यह नवीनता लाने के लिए पूर्वोत्तर पुस्तक मेला निश्चय ही धन्यवाद का पात्र है।

मगर यहां हमें एक अन्य बात का भी निश्चय ही ध्यान रखना होगा। पुस्तक मेला पुस्तक आंदोलन का ही एक स्वरूप है। अन्य आंदोलनों की तरह इस पुस्तक मेले की भी एक निश्चित जातीय जिम्मेदारी है। असम के मामले में इसकी जिम्मेदारी असमिया पुस्तकों की बिक्री बढ़ाना और असमिया पुस्तक उद्योग का विकास करना है। मगर असम में अभी तक बड़े पैमाने पर जितने पुस्तक मेले आयोजित किए जा रहे हैं, उनमें इस जिम्मेदारी का संपूर्ण निर्वहन नजर नहीं आता। क्योंकि असम प्रकाशन परिषद के तत्वावधान में आयोजित गुवाहाटी पुस्तक मेला हो अथवा पुस्तक प्रकाशक और विक्रेता संघ द्वारा आयोजित पूर्वोत्तर पुस्तक मेला हो–इन दोनों पुस्तक मेलों के उन स्टालों पर ही अधिक भीड़ नजर आती है, जिन स्टालों पर कंप्यूटर शिक्षा से जुड़ी अंग्रेजी भाषा की पुस्तक, अन्य ऊंचे कीमतों की अंग्रेजी भाषा के पाठ्यक्रम संबंधी उच्च शिक्षा की पुस्तकें, हैरी पोटर जैसी पुस्तकें अथवा रंगीन कामुक जैसी पुस्तकों की बाढ़ आई हुई हो। इसके विपरीत विशुद्ध असमिया साहित्य संस्कृति आधारित पुस्तकें, असमिया कहानी, उपन्यास, कविता आदि की पुस्तकें अथवा विभिन्न विषयों पर असमिया भाषा में लिखी पुस्तकें जिन स्टालों पर बिकती हैं, उन सभी स्टालों पर दर्शक–खरीददारों की भीड़ काफी कम नजर आती है। फलस्वरूप इतने बड़े–बड़े पुस्तक मेलों से असम के पुस्तक उद्योग अथवा असमिया पुस्तक उद्योग को जिस प्रकार का फायदा मिलना अथवा विकसित होना था, वैसा फायदा–विकास हो नहीं पाया।

इस समस्या का समाधान क्या है? मेरी दृष्टि में इस मामले में आयोजकों की एक बड़ी जिम्मेदारी है। मेरा मानना है कि असम में आयोजित पुस्तक मेलों में असमिया पुस्तक अथवा असम की मूल जनजाति भाषा में प्रकाशित पुस्तकों पर विशेष छूट दिए जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए। ऐसी सभी पुस्तकों पर दस प्रतिशत छूट की घोषणा के साथ पुस्तक मेला आरंभ करने पर असमिया पुस्तक उद्योग को खास मुनाफा हासिल नहीं होता, यह बात भी साबित हो चुकी है। हमारा मानना है कि अन्य पुस्तकों पर दस प्रतिशत छूट के साथ पुस्तकें बेचे जाने की व्यवस्था होने पर असमिया भाषा की पुस्तकों के मामलों में यह छूट कम से कम 20 प्रतिशत होनी चाहिए। वरना, पुस्तक मेले का भले ही सामयिक उद्देश्य सफल हो जाए, इसका मुख्य उद्देश्य नाकाम ही रहेगा।

प्रेस फ्रीडम : क्या है भविष्य

समाचार माध्यम को लोकतंत्र के चौथे स्तंभ के तौर पर पूरे विश्व में स्वीकृति प्राप्त है। लोकतंत्र के अन्य तीन स्तंभ क्रमशः कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के बाद ही लोकतांत्रिक व्यवस्था में समाचार माध्यम का स्थान है। लोकतंत्र के अन्य तीन स्तंभों में विधायिका कानून बनाती है, कार्यपालिका कानून को लागू करती है और न्यायपालिका कानून की रक्षा करती है। लोकतंत्र के इन तीनों स्तंभों की यह तय जिम्मेदारी और कर्त्तव्य है। दूसरी ओर इन तीनों स्तंभों ने अपने-अपने क्षेत्रों में अपनी जिम्मेदारियों का सुचारू रूप से पालन किया है या नहीं, इस पर नजर रखना ही चौथे स्तंभ समाचार माध्यम की जिम्मेदारी है। इस तरह से यदि देखा जाए तो समाचार माध्यम को लोकतंत्र का सच्चा रखवाला कहा जा सकता है।

मगर यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कर्त्तव्य पालन के लिए क्षमता अथवा अधिकार की भी जरूरत पड़ती है। किसी तय कर्त्तव्य के निर्वहन के लिए तय ताकत, क्षमता अथवा अधिकार न रहने पर कोई भी 'बिना ढाल-तलवार के निधिराम सरदार' की तरह कर्त्तव्यों का पालन नहीं कर सकता। इस सच्चाई को समझ लेने के बाद ही दुनिया के सभी लोकतांत्रिक देशों में समाचार माध्यम को पर्याप्त स्वाधीनता और अधिकार प्रदान किए गए हैं।

भारतवर्ष भी इससे अलग नहीं है। भारत में स्वाधीनता से पहले ही, जब हमारा देश अंग्रेजों के अधीन था, तभी छपाई माध्यम (प्रिंट मीडिया) युग का प्रारंभ हो गया था। उस समय भारतीय समाचार में एक बड़ा मुद्दा था और वह था देश की स्वाधीनता। राष्ट्रीयवादी भावना से ओत-प्रोत स्वदेशी प्रचार माध्यम ने इस मुद्दे को आगे रखते हुए भारत पर शासन कर रहे तत्कालीन औपनिवेशक अंग्रेज सत्ता पर बड़ी कठोरता से हमला बोला था। दूसरी ओर अंग्रेज शासकों ने भी स्वदेश प्रेमी समाचार माध्यम का कंठरुद्ध करने के लिए जी-जान से कोशिश की थी। विभिन्न प्रकार के कानून आदि की मदद से सत्तापक्ष ने समाचार माध्यम की स्वाधीनता को खत्म करने का हर संभव प्रयास किया था। हालांकि अपनी स्वाधीनता को बनाए रखने की लड़ाई में उस वक्त भारतीय समाचार माध्यम विजयी रहा था, समाचार माध्यम अग्नि-परीक्षा में खरा उतरा था।

ऐसी एक स्थिति में देश ने स्वाधीनता हासिल की और हमारा देश विश्व का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश बन गया। सभी ने उम्मीद की थी कि स्वाधीन लोकतांत्रिक देश भारत में समाचार माध्यम अब बिना किसी रुकवाट के विकसित हो जाएगा, मगर यह आशा सिर्फ आशा बनकर ही रह गई। बाद में देखा गया कि स्वाधीनता हासिल करने और देश में लोकतंत्र की स्थापना के बाद के पांच दशकों में भारतीय पत्रकार और समाचार माध्यमों पर विभिन्न सरकारी गैर-सरकारी ताकतों द्वारा कुछ ज्यादा ही हमले होने लगे। यही है हमारे देश के समाचार माध्यम के सामने मौजूदा समय की सबसे बड़ी चुनौती।

तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी द्वारा 1975 में देश भर में इमर्जेंसी (आपातकाल) लगाने के अलावा प्रेस पर भी सेंसरशिप लगाना संभवत: स्वाधीन भारत में समाचार माध्यम की स्वाधीनता पर किया गया औपचारिक व्यापक तथा नग्न हमला था। आपातकाल के भयावह दिन और इससे जुड़ी घटनाएं लोकतंत्र तथा मानवाधिकार समर्थक हर एक व्यक्ति को आज भी मानसिक रुप से परेशान करती होगी।

इमर्जेंसी और प्रेस पर लगी सेंसरशिप बाद में वापस ले ली गई, मगर समाचार माध्यम सुरक्षित नहीं रह पाया। इमर्जेंसी और प्रेस पर लगी सेंसरशिप बाद में वापस ले लिए जाने के बावजूद पिछले कई सालों में देश के विभिन्न हिस्सों में समाचार माध्यम की स्वाधीनता का किस तरह हनन किया जा रहा है, इस पर हम विस्तार से चर्चा करने नहीं जा रहे हैं, क्योंकि इसके बारे में सभी अच्छी तरह से वाकिफ हैं। यहां सिर्फ एक बात का स्मरण करना प्रासंगिक होगा कि इसी देश में एक राजनीतिज्ञ का कार्टून बनाने के जुर्म में संबंधित कार्टूनिस्ट को जेल तक की हवा तक खानी पड़ी है। 'द हिंदू' जैसे समाचारपत्र के संपादक, कार्यकारी संपादक को तमिलनाडु विधानसभा ने कारादंड का आदेश दिया था। ऐसी स्थिति में भारतीय लोकतंत्र का स्वरूप आज विश्ववासियों के समक्ष संदेहजनक हो उठा है।

असम के मामले में तो स्थिति और भी अधिक चिंताजनक है। यहां तो लोकतंत्र की रक्षा की लड़ाई लड़ रहे पत्रकारों को सिर्फ जेल की हवा ही नहीं खानी पड़ी, अपने प्राणों की भी बलि देनी पड़ी है। पत्रकार कमला सइकिया से पराग दास तक, राज्य के समाचार माध्यम के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। जहां तक समाचार माध्यम के प्रति सरकारी नजरिए का सवाल है तो वर्ष 2013 में प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह जब गुवाहाटी दौरे पर आए थे, तब उनसे मिलने देने की मांग को लेकर पत्रकारों को असम सचिवालय के सामने धरने पर बैठना पड़ा था। बाद में प्रधानमंत्री को जब इस बात की जानकारी मिली तो वे स्वयं चलकर पत्रकारों से मिलने पहुंचे। उक्त सभी घटना-हादसों की लंबी सूची को देख समझा जा सकता है कि असम का समाचार माध्यम हकीकत में किस दिशा की ओर बढ़ रहा है।

बजाली हाईस्कूल : एक स्मृति

जीवन-पथ पर चलते-चलते कभी यदि पीछे मुड़कर, यादों की खिड़की खोल स्वयं से सवाल करूं कि मेरे जीवन का सबसे आनंदपूर्ण समय कौन सा था तो मेरे अंदर से जरूर यही जवाब आएगा कि बजाली उच्चतर माध्यमिक बहुमुखी विद्यालय में पढ़ाई करते हुए गुजारा वक्त मेरे जीवन का सबसे आनंददायक समय था। बजाली उच्चतर माध्यमिक बहुमुखी विद्यालय, हमारे इलाके के बच्चे-बड़े सभी में बजाली हाईस्कूल के नाम से लोकप्रिय है। सही मायने में यह विद्यालय मेरे जीवन के सबसे अधिक आनंदमय दिनों का सृजनकर्ता रहा है। स्कूल में पढ़ाई के कई सालों ने मेरे जीवन को कई मामलों में परिपूर्ण किए रखा। उन सब दिनों को याद कर आज भी मेरे मन को असीम ऊर्जा मिलती है और जीवन की लड़ाई लड़ने के लिए मन में एक नई हिम्मत पैदा होती है।

याद आता है हाईस्कूल के प्राचार्य सचिन दास सर का अनुशासनयुक्त प्यार और उपाचार्य द्विजेन गोस्वामी सर का प्यार भरा अनुशासन। इन दोनों शिक्षकों के शानदार व्यक्तित्व आज भी मुझे और मेरे जैसे सैकड़ों लोगों को प्रेरणा देते हैं। स्मरण आता है प्रवीण पाठक सर के साथ मित्र जैसा संबंध और उनसे जुड़ी ढेर सारी बातें। प्रवीण पाठक सर का दोस्ताना व्यवहार और हमारे साथ होने वाली उनकी मित्रता भरी बातों ने हमारे सामने जीवन के विभिन्न पहलुओं से जुड़ी बहुत-सी बातों पर से पर्दा हटाया था। असम के एक विशिष्ट साहित्य सेवक, असम साहित्य सभा के प्रधान सचिव पद को जिन्होंने सुशोभित किया था, उन सतीश चंद्र चौधरीदेव को अपने शिक्षक के रूप में पाकर मैं गौरवान्वित हूं। साहित्य के रस भरे अद्‌भुत जगत के साथ उन्होंने ही हमारी पहचान कराई थी।

बजाली हाईस्कूल की ख्याति बचपन से ही मुझे आकर्षित करती रही है। शिक्षा के मामले में इस शिक्षण संस्थान की राज्य में जो प्रसिद्धि है, उसको ध्यान में रखते हुए बड़ी उम्मीद से स्कूल में दाखिला करवाया था। इस विद्यालय के पूर्व छात्र

डॉ. जयंत कुमार शर्मा, डॉ. भृंगेश्वर शर्मा, कल्याण काकोती आदि द्वारा देश-विदेश में अर्जित प्रतिष्ठा ने मेरी उम्मीद को काफी हद तक पूरा कर दिया। बजाली हाईस्कूल से मिली शिक्षा ने मेरे जीवन को आंदोलित किया है, आलोकित किया है। सच कहूं तो पाठशाला माध्यमिक विद्यालय और बजाली हाईस्कूल ने मेरे जीवन-मार्ग को जितना आलोकमय किया, बाद में बड़े-बड़े शैक्षणिक संस्थान भी मेरे जीवन को उससे अधिक प्रकाशमय नहीं कर पाए।

बजाली हाईस्कूल ने मुझे बहुत से ऐसे दोस्त उपहार स्वरूप दिए हैं, जिनको कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। वह लोग सही मायने में सच्चे दोस्त थे, उनमें कहीं भी किसी प्रकार की स्वार्थ की भावना नहीं थी। रूपम, मुकुल आदि से हुई दोस्ती आज भी मेरे हृदय को स्पंदित कर देती है। मगर बजाली हाईस्कूल में पांच साल की पढ़ाई के दौरान स्कूल से हासिल दोस्तों में सबसे आत्मीय और प्रिय दोस्त है अचिंत्य शर्मा। इस निर्भीक पत्रकार के साथ 1987 में मेरी दोस्ती हुई थी और यह दोस्ती आज भी वैसी ही नहीं दिन-ब-दिन और अधिक गहरी होती जा रही है। आज हम आपसी सहयोग के माध्यम से जीवन को आगे ले जाने की जिन कोशिशों में लगे हैं, यह कोशिश बजाली हाईस्कूल के जमाने से ही शुरू हो गई थी।

मगर बजाली हाईस्कूल की जो घटना मेरे लिए सदैव स्मरणीय रहेगी, वह है एक साल के लिए मेरा स्कूल की पत्रिका का संपादक बनना। इस तरह मारवाड़ी समुदाय में जन्म लेने पर भी दिल में असमिया भाषा-संस्कृति की सेवा करने की जो इच्छा थी, बजाली हाईस्कूल ने उस इच्छा को पूरा करने का मौका उपलब्ध कराया। स्कूल की पत्रिका के संपादक के रूप में मेरी जिम्मेदारी पत्रिका का प्रकाशन करने के अलावा मेरे पूर्व संपादकों के उन दिनों अप्रकाशित रह गई पत्रिका का प्रकाशन करना भी था। इन दोनों पत्रिकाओं के प्रकाशन में स्कूल के सर-बाइदेउ (अध्यापक-अध्यापिका) से मुझे अभूतपूर्व सहयोग मिला।

लिखने को तो बहुत कुछ लिखा जा सकता है, मगर इस तरह लिखने से दिल भावुक हो उठता है और आंखें छलकने लगती है। पाठशाला जाने पर आज भी कभी-कभी बजाली हाईस्कूल जाता हूं। पहचान के सर-बाइदेउ नहीं दिखते, अधिकांश अवकाशप्राप्त हो गए हैं, दो-चार अध्यापक यह दुनिया छोड़कर जा चुके हैं। उन सभी की यादों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए इस स्मरण-कथा को यहीं समाप्त करने जा रहा हूं। उन सभी को संबोधित करते हुए मैं कहना चाहता हूं-आप लोगों को हम अपने जीवन में उतारेंगे, हर पल-हर दिन।

जय बजाली उच्चतर माध्यमिक विद्यालय।

बजाली कॉलेज : एक स्मृति

आज वृहत्तर बजाली क्षेत्र के अलावा पाठशाला में भी कई अग्रणी शिक्षण संस्थान हैं। असम के विभिन्न हिस्सों से आए बच्चे इन शिक्षण संस्थानों में पढ़ाई करते हैं। पाठशाला के शैक्षणिक जगत का यह स्वरूप देख हमारे मन में बजाली कॉलेज की स्मृतियां आज भी सजीव हो उठती हैं। एक समय था, जब बजाली कॉलेज का नाम आते ही एक विशिष्ट शैक्षणिक संस्थान की याद आती थी। असम तथा पूर्वोत्तर के भौगोलिक मानचित्र में, शैक्षणिक जगत के मानचित्र में बजाली कॉलेज का एक अलग ही स्थान था। इस कॉलेज से पढ़ाई कर असंख्य मेधावी छात्र आज राज्य तथा देश के महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन हो देश की सेवा करने में लगे हैं। हो सकता है बहुत से अधिकारियों ने अवकाश भी ले लिया हो। बजाली कॉलेज का नाम आते ही मन में एक शांति का संचार होता है। खुद को इस कॉलेज का छात्र बताने में मेरे मन में गौरव की अनुभूति हो रही है। मेरे गौरव की स्थली बजाली कॉलेज आज भी पहले ही जैसा है या बदल गया, यह सवाल आज भी मेरे दिल में रह-रहकर उठता रहता है। वर्ष 1991-92 में हमने बजाली कॉलेज में पढ़ाई की थी। शिक्षक-विद्यार्थियों के बीच आदरपूर्ण संबंध, विद्यार्थियों में आपस का भाईचारा, शैक्षणिक वातावरण, हंसी-किल्लोल, कॉलेज के सामने स्थित नील जलराशि से भरी पुखरी सहित बजाली कॉलेज में गुजरे वे दिन आज भी मेरे हृदय-पटल पर जीवंत बने हुए हैं। उन दिनों

को जब भी याद करता हूं, महसूस होता मैं बजाली कॉलेज से सम्मोहन से अब भी खुद को मुक्त नहीं कर पाया हूं। राज्य के बौद्धिक जगत में कल तक बजाली कॉलेज की जो एक खास पहचान थी, वह खास पहचान आज भी है। हाल ही में मैं राज्य के एक उच्च अधिकारी के साथ पाठशाला के निकट किसी स्थान पर गया था। गुवाहाटी से पाठशाला तक पहुंचने में तब सुबह के 9 ही बजे थे। मेरे साथ जा रहे अधिकारी ने मुझसे कहा- गोपाल क्या बजाली कॉलेज को देख सकते हैं। मैंने उनसे कहा कि सर, बस पांच मिनट बाद हम बजाली कॉलेज के सामने होंगे और थोड़ी ही देर में हम बजाली कॉलेज के सामने पहुंच गए। कॉलेज के आसपास की दुकान-व्यावसायिक प्रतिष्ठानों में तब व्यस्तता बढ़ने लगी थी। मैंने कहा-यही है बजाली कॉलेज, जिसको लेकर मुझे अभिमान है, जिस पर मैं हमेशा ही गर्व करता हूं। यही वह कॉलेज है, जिसने ऐसे विद्यार्थी पैदा किए जो आज राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी अमूल्य सेवाएं दे रहे हैं। उन्होंने कॉलेज के चारों ओर बड़े ध्यान से देखा। तीक्ष्ण मेधा संपन्न भारतीय प्रशासनिक सेवा में लगे उक्त अधिकारी ने मुझसे सिर्फ इतना ही कहा, गोपाल- कॉलेज के सौंदर्य को और भी बढ़ाया जा सकता है, क्योंकि यहां सौंदर्यवर्द्धन की काफी संभावनाएं दिखती हैं। अल्पभाषी अधिकारी ने क्या सोचकर मुझसे यह बात कही यह तो पता नहीं, मगर बजाली कॉलेज के बाहरी हिस्से को देख मुझे काफी निराशा हुई थी। कॉलेज के मुख्य प्रवेशद्वार से अंदर जाने वाले रास्ते में जगह-जगह पेड़ के पत्ते बिखरे पड़े थे। जगह-जगह जंगल उग आए थे और मलीन से दिख रहे कॉलेज के दरवाजे-खिड़कियों के शीशों ने मुझे काफी निराश व दुखी किया। मेरे विद्यार्थीकाल में कॉलेज के सामने स्थित पुखरी में भरी जलराशि जिस सौंदर्य को प्रस्तुत करती थी, वह सौंदर्य आज मेरी आंखों में समाया हुआ है। उस समय पुखरी किनारे स्थित उद्यान में नए अभ्यर्थियों द्वारा तैराकी का अभ्यास करने का दृश्य बेहद रोमांचक और आनंददायक लगता था। कुछ लोगों ने बताया कि इस पुखरी में आज भी तैराकी का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसे एक प्रशंसनीय काम कहा जा सकता है। अन्य एक उल्लेखनीय बात यह है कि अनेक खेल प्रतिभाओं को जन्म देने वाला बजाली कॉलेज का खेल मैदान आज स्तब्ध है। अभ्यास करने के लिए यदि उपयुक्त जगह ही नहीं हो तो फिर प्रतिभाओं का विकास कैसे होगा। ये बातें भले ही छोटी लगे, मगर इनके महत्त्व को कम करके नहीं आंका जा सकता। इन सभी बातों पर विचार करते-करते मैंने आज के बजाली कॉलेज और मेरे समय के बजाली कॉलेज के बीच के फर्क को महसूस करने की कोशिश की। मैं जब कॉलेज

में पढ़ा करता था, तब कॉलेज के कई कार्यक्रमों में राज्य के स्वनाम धन्य, लोकप्रिय लोगों को आमंत्रित किया जाता था। मैं जब अपनी स्मृतियों में खोया हुआ था, तभी सर की आवाज सुनाई दी। सर, कह रहे थे गोपाल, कॉलेज की पहचान और विशेषताओं को बनाए रखने के लिए दिल से कोशिश करने की बहुत जरूरत है। क्या तुम भी ऐसा ही सोचते हो। मैंने सर को धन्यवाद दिया, मगर सर ने मुझसे यह बात क्यों कही यह मेरी समझ में नहीं आया। नि:संदेह बजाली कॉलेज की शैक्षणिक लोकप्रियता आज भी पहले जैसी जस की तस है। कॉलेज के पूज्यनीय अध्यापक-प्रवक्तागण आज भी कॉलेज के मान को बनाए रखने के लिए दिन-रात मेहनत करते नजर आते हैं। मगर यह बात भी सच है कि किसी भी संस्थान का बाहरी स्वरूप किसी के मन में उस संस्थान के बारे में एक सोच विकसित करने में मददगार साबित होता है, लिहाजा कॉलेज प्रबंधन को कॉलेज के बाहरी स्वरूप को चमकाने-सुधारने की कोशिशें करनी चाहिए। सर के कहे अनुसार कॉलेज की सुंदरता को बढ़ाने के कई उपाय हैं। साफ-सफाई किसी भी संस्थान की सुंदरता को बढ़ा देती है। हम पूरी गंभीरता के साथ यह उम्मीद करेंगे कि बजाली कॉलेज हमारे गौरव बोध को बनाए रखेगा। प्रसंगवश यहां मैं यह भी उल्लेख करना चाहूंगा कि यह कोई समालोचना नहीं, मेरे निजी विचार मात्र हैं। बजाली कॉलेज जनता का संस्थान है। बजाली की जनता के प्राण इस संस्थान में बसते हैं। हम सिर्फ यह चाहते हैं कि बजाली कॉलेज की प्रगति की गति इसी प्रकार चलती रहे।

साहित्य सभा ही खोलेगी नया द्वार

असम के जिन मुट्ठी भर संगठनों ने असम की जनता के दिलो-दिमाग पर अपनी छाप छोड़ी है, नि:संदेह वैसे संगठनों में असम साहित्य सभा का नाम सबसे पहले लिया जाता है। असमवासी इस संगठन के साथ जिस तरह से अपना गहरा जुड़ाव महसूस करते हैं अथवा इस संगठन को लेकर जिस प्रकार की भावनाएं प्रकट करते हैं, सचमुच वैसा बहुत कम ही देखने को मिलता है। असम साहित्य सभा से बहुत प्यार करने की वजह से ही राज्य के जागरूक लोग इसके कार्यकलापों पर पैनी नजर भी रखते हैं। गलती करने पर साहित्य सभा की कड़े शब्दों में आलोचना करते हैं और बड़ी ही साफगोई के साथ इसकी गलतियों को भी सभी के सामने रखते हैं। राज्य के विभिन्न स्थानों पर होने वाले असम साहित्य सभा के अधिवेशनों में उमड़ने वाली भीड़ ही इस बात को साबित करने के लिए काफी है कि हकीकत में राज्य की जनता इस संगठन को कितना चाहती है।

स्वाधीनता से पूर्व, बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब लगभग पूरा विश्व युद्ध की आग में जल रहा था, उस समय दुनिया के एक कोने में, असम में असम साहित्य

सभा को जन्म दिया गया। जिस दौर में समूचा विश्व ही युद्ध और ध्वंस के उन्माद में सुलग रहा था, वैसे माहौल में मुट्ठी भर असमिया सृजनशीलता का सपना देख रहे थे। उसी के फलस्वरूप पद्मनाथ गोहाईं बरुवा के नेतृत्व में असम साहित्य सभा का गठन किया गया। वह असमिया जातीयतावाद के पुनर्जागरण का दौर था। स्वाधीनता हासिल करने के लिए संग्राम की राह पर जब देशवासी चल निकले थे, उन्हीं दिनों कुछ दूरदर्शी असमिया व्यक्ति साहित्य साधना के दम पर असमिया जाति की अलग पहचान को बनाए रखने की भी चिंता करने में लगे थे। असम के साहित्य जगत से जुड़ा एक-एक व्यक्ति असम साहित्य सभा के झंडे तले खड़ा होने लगा। असम के जातीय जीवन के पुरोधा व्यक्ति असम साहित्य सभा के मंच पर इकट्ठा होने लगे।

ध्यान देने वाली बात है कि दुनिया की अन्य सभी जातियां जब राजनीतिक आंदोलन के द्वारा अपनी पहचान स्थापित करने की कोशिशों में लगी हैं, ठीक उसके विपरीत असमिया जाति हमेशा से ही बौद्धिक कार्यक्रमों के बीच से ही अपनी खास पहचान को स्थापित करने की कोशिशें करती आई है। चुकाफा द्वारा गठित असमिया जाति को श्रीमंत शंकरदेव ने ऐसे कार्यों के माध्यम से जान और पहचान दिलाई। उसके बाद से जब कभी जाति के अस्तित्व अथवा पहचान का संकट आया, तभी साहित्यिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तर पर प्रयास किए गए। वैसे ही प्रयासों के फलस्वरूप अरुणोदय, जोनाकी, बांही, आवाहन आदि पत्रिकाओं का जन्म हुआ। राज्य के अलग-अलग स्थानों पर नाट्य दलों और सबसे बड़ी बात असम साहित्य सभा जैसे जातीय संगठन का गठन हुआ। हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि असम साहित्य सभा एक विशेष जातीय जागरण लाने में पूरी तरह सफल रही। इसके अलावा साहित्य सभा साहित्यकारों को आम लोगों के निकट ले जाने में, पुस्तकों को जनता के निकट ले जाने और लोगों में जातीय दायित्वबोध का माहौल बनाने में पूरी तरह से सफल रही। इसी तरह स्वयं ही असम साहित्य सभा एक विशेष समृद्ध परंपरा की अधिकारी बन बैठी। एक समृद्ध परंपरा की अधिकारी होने पर भी दुर्भाग्य की बात है कि असम साहित्य सभा को विवादों का भी सामना करना पड़ा। विशेषकर बीती शताब्दी के नौवें दशक में असम साहित्य सभा को लेकर इस कदर विवाद हुए कि राज्यवासी भी आतंकित हो उठे। सभी के मन में एक ही सवाल था- क्या होगा, इस जातीय संगठन का। सभी संकटों से लड़ते हुए, सभी विवादों से ऊपर उठकर क्या यह संस्था खुद को पुनर्स्थापित कर पाएगी? क्या असम साहित्य सभा जिंदा रह पाएगी? ऐसे सवाल राज्य की जनता के सामने नाग की तरह फन उठाए खड़े थे। मगर असम

साहित्य सभा के प्रति राज्यवासियों की शुभकामना व अशीर्वाद भी रहा है। यही शुभकामना और आशीर्वाद ही तो है, जो असम साहित्य सभा को जीवन शक्ति देता है और इसी जीवन शक्ति के दम पर असम साहित्य सभा अभी तक अपने हर संकट का मुकाबला करती आई है। इस बार भी वैसा ही हुआ। असम साहित्य सभा के लिए नई शताब्दी, नई उम्मीदों का पैगाम लेकर आई। 21वीं शताब्दी के शुरू से ही असम साहित्य सभा को होमेन बरगोहाईं, बीरेंद्र नाथ दत्त, कनक सेन डेका, रंगबंग तेरांग, इमरान शाह जैसे साहित्यकारों का नेतृत्व मिलने लगा। इनके नेतृत्व ने असम साहित्य सभा को एक नई जीवन-शक्ति, नई गति प्रदान की। होमेन बरगोहाईं की 'असमिया विश्वकोश' परियोजना ने राज्यवासियों में एक बौद्धिक जनजागरण का संचार किया। कनक सेन डेका के नेतृत्व में असम साहित्य सभा ने कुछ ऐसे विषयों को अपने हाथों में लिया, जिन पर साहित्य सभा ने पहले कभी ध्यान ही नहीं दिया था। बाद में रंगबंग तेरांग ने अध्यक्ष पद पर रहते हुए असम साहित्य सभा को नई ऊंचाईयां दीं। और अब इमरान शाह साहित्य सभा को विकास के मार्ग पर ले जाने में लगे हुए है।

धधकते इंग्लैंड में भारतीय क्रिकेट टीम की सुरक्षा

लंदन उन दिनों जातीय दंगों की आग में धधक रहा था। एक व्यक्ति की हत्या के विरोध के नाम पर हजारों असामाजिक तत्त्व लंदन के अलावा अन्य शहरों में लूटपाट करने में लगे थे। भारी संख्या में तैनात सुरक्षाकर्मी भी ऐसे असामाजिक तत्त्वों को रोक पाने में नाकाम साबित हो रहे थे। एक के बाद एक शहर ऐसे तत्त्वों द्वारा लगाई गई आग में जल रहे थे। मगर इस मारपीट-आगजनी और लूटपाट घटनाओं के बीच इंग्लैंड और भारत के बीच क्रिकेट टेस्ट शृंखला निर्विघ्न चल रही थी। स्थिति को देखते हुए इंग्लैंड में होने वाले लगभग सभी राष्ट्रीय स्तर की खेल प्रतियोगिता के कार्यक्रमों को रद्द कर दिया गया था। यहां तक कि इंग्लैंड का सबसे लोकप्रिय माने जाने वाला 'रग्बी' खेल भी रद्द कर दिया गया था, जबकि नर्दास्पटन में इंग्लैंड के खिलाफ क्रिकेट का तीसरा टेस्ट मैच खेला जा रहा था। इंग्लैंड में जारी लूटपाट, हत्या-हिंसा और आगजनी की खबरों के प्रकाशित-प्रसारित होने से जब पूरे विश्ववासी चिंतित व शंकित थे, वैसे तनावग्रस्त माहौल में वहां भारतीय टीम का क्रिकेट के टेस्ट मैच खेलना कितना उचित था, इस सवाल का जवाब तो समय ही देगा। भारतीय क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड (बीसीसीआई) ने बिना किसी भय के अपने खिलाड़ियों को खेल के मैदान में उतरने को कहा था। इंग्लैंड सरकार के आश्वासन पर बीसीसीआई ने अपनी सहमति प्रदान की थी। जबकि वर्ष 2008 के नवंबर में हुए मुंबई कांड के वक्त इंग्लैंड क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड ने सुरक्षा कारणों का हवाला देते हुए अपनी क्रिकेट

टीम को भारत दौरा अधूरा ही छोड़कर इंग्लैंड वापस बुलवा लिया था। सात एक दिवसीय क्रिकेट मैच की शृंखला में जब भारत 5-0 से आगे था, तब इंग्लैंड की क्रिकेट टीम अपने देश लौट गई थी। भारत सरकार द्वारा अभयदान दिए जाने के बाद भी इंग्लैंड की क्रिकेट टीम का अपने देश लौट जाना एक तरह से भारतीय सुरक्षा व्यवस्था की अनदेखी करना था। उस समय बीसीसीआई भी इंग्लैंड क्रिकेट बोर्ड को राजी नहीं कर पाई थी, जिस वजह से बीसीसीआई को करोड़ों रुपए का नुकसान उठाना पड़ा था। जबकि उसी बीसीसीआई ने इंग्लैंड में चल रहे मार-काट के बीच अपने खिलाड़ियों को खेल के मैदान में उतरने को कहा।

इस पूरे प्रकरण में बीसीसीआई की भूमिका पर इसलिए भी सवाल उठाए जाने चाहिए, क्योंकि वर्ष 2009 में आईपीएल को भारत से दक्षिण अफ्रीका स्थानांतरित करने का कारण भी सुरक्षा व्यवस्था ही था। जयपुर स्टेडियम के निकट हुए बम धमाके के साथ-साथ पूरे विश्व में भारतीय सुरक्षा व्यवस्था को लेकर एक प्रकार की बहस छिड़ गई थी। तब आईपीएल के तीसरे संस्करण के रद्द होने की संभावना को देखते हुए इसे भारत के बजाए दक्षिण अफ्रीका में आयोजित करने का निर्णय किया गया।

सर्वाधिक कमाई करने वाले क्रिकेट बोर्डों में बीसीसीआई का नंबर पहला है। अंतर्राष्ट्रीय क्रिकेट परिषद (आईसीसी) को बीसीसीआई जितना राजस्व जुटाकर देता है, उतना राजस्व तो इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, श्रीलंका, पाकिस्तान और बांग्लादेश मिलकर भी आईसीसी को नहीं देते। यही कारण है कि आईसीसी जैसी अंतर्राष्ट्रीय स्तर की क्रिकेट परिषद भी बीसीसीआई के इशारे पर उठती-बैठती है। सबसे अधिक राजस्व देने के कारण ही कोई भी बीसीसीआई पर किसी भी प्रकार की पाबंदी नहीं लगा सकता। अपनी इसी ताकत के दम पर सुरक्षा कारणों का हवाला देकर भारत से अपनी टीम वापस बुला लेने वाले इंग्लैंड में मचे मार-काट के बीच अपने क्रिकेट खिलाड़ियों को मैदान में उतार कर एक बार फिर बीसीसीआई ने विश्ववासियों को अपनी ताकत का अहसास करा दिया। मगर यहां यह सवाल भी उठता है कि भारत की सुरक्षा व्यवस्था का हवाला देकर इंग्लैंड यदि अपनी टीम को वापस बुला सकता है। इसी कारण से विदेशी क्रिकेट खिलाड़ियों ने आईपीएल में खेलने से मना कर दिया था तो एक ही स्थिति लंदन में पैदा होने पर बीसीसीआई ने किस बिना पर भारतीय क्रिकेट खिलाड़ियों को मैदान में उतरने को कहा। चूंकि बीसीसीआई का मकसद पैसे कमाना था, इसीलिए वह नहीं चाहता था कि शृंखला का एक भी मैच रद्द हो।

लंदन के अलावा अन्य चार शहरों में बीस हजार से अधिक सुरक्षाकर्मी तैनात किए जाने के बाद भी बीसीसीआई ने आंखें मूंदने का नाटक करते हुए भारतीय खिलाड़ियों को मैदान में उतरने का निर्देश दिया था। यह सही है कि खेल के बाद भी सारे भारतीय खिलाड़ी पूरी तरह सुरक्षित थे, मगर भारत सरकार द्वारा ऐसी ही सुरक्षा का भरोसा दिलाए जाने के बावजूद वर्ष 2009 में इंग्लैंड क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड ने अपने खिलाड़ियों को शृंखला बीच में ही छोड़ वापस बुला लिया था। बीसीसीआई को यह बात नहीं भूलनी थी।

बीसीसीआई के इस फैसले के पीछे बहुराष्ट्रीय कंपनियों का भी हाथ रहा होगा। चूंकि पेप्सी, कोका कोला, हीरो होंडा, एलजी, विभिन्न मोबाइल फोन निर्माता व अन्य कंपनियां स्पांसर के नाम पर करोड़ों रुपए खर्च करती हैं, ऐसे में यदि कोई भी मैच अथवा शृंखला रद्द होती है तो ऐसी कंपनियों को सैकड़ों करोड़ों रुपए का नुकसान उठाना पड़ता है। इसीलिए इन कंपनियों का क्रिकेट खेलने वाले देशों के बोर्डों के अलावा खिलाड़ियों पर भी भारी दबाव रहता है। यह सभी को पता है कि आज भी बीसीसीआई और भारतीय खिलाड़ियों के साथ कई बहुराष्ट्रीय कंपनियां जुड़ी हुई हैं। विज्ञापनों के माध्यम से विश्व में सर्वाधिक कमाई करने वाले भारतीय क्रिकेट खिलाड़ियों की जर्सी में ऐसी कई कंपनियों के स्टिकर लगे हुए देखे जा सकते हैं। लिहाजा इन सबको मिलाकर यदि देखें तो बीसीसीआई पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का भारी दबाव रहता है। इसी दबाव की वजह से ही आज के दिन खिलाड़ियों के आराम का मुद्दा भी गौण हो गया है। ऐसे में बीसीसीआई को कमाई के साथ-साथ खिलाड़ियों के जान-माल की सुरक्षा और आराम के बारे में भी सोचना होगा।

फेसबुक के चुंगल में युवा पीढ़ी

हर एक क्षेत्र, मसले का एक तय दायरा होता है, इसी दायरे में रहकर ही उक्त मसले का किसी नजरिए के साथ विश्लेषण किया जा सकता है। कभी-कभी विषय के महत्त्व के आधार पर इसका दायरा विस्तृत भी हो जाता है, मगर यह भी सच है कि दायरा बढ़ने के लिए उसकी मांग भी रहनी होगी। क्योंकि हर एक वस्तु का महत्त्व उसकी मांग पर ही निर्भर करता है। किसी वस्तु की मांग भी बदलते समय के साथ बदलती रहती है और इस हिसाब से वस्तु का दायरा भी कम-अधिक होने लगता है। विज्ञान में आए भारी बदलाव के साथ-साथ सभी क्षेत्रों में बदलाव आने लगा है। यह स्वभाविक भी है। 'आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है।' आज की आधुनिक जीवन शैली में फेसबुक लोगों के जीवन का अभिन्न अंग बन चुका है। फेसबुक विश्व की सर्वाधिक लोकप्रिय सोशल नेटवर्किंग है। वर्ष 2004 में मार्क जुकार वार्ग द्वारा इस सोशियल नेटवर्किंग की शुरूआत करने के साथ-साथ विश्व के लोग एक-दूसरे के बारे में जानने के लिए उतावले हो उठे। इतने दिन फोन को ही संपर्क साधने का मुख्य साधन मानने पर भी हाल के दिनों में इसमें फेसबुक भी जुड़ गया है।

पहले ही जिक्र कर चुका हूं कि हर एक क्षेत्र की एक तय सीमा होती है। यह

सीमा इसके उपयोग पर निर्भर करती है, मगर उपयोग करने वाले पर भी यह काफी हद तक निर्भर करती है। फेसबुक को सोशल नेटवर्किंग के तौर पर स्वीकार किए जाने के बावजूद युवा पीढ़ी इसका बजाए सद्उपयोग करने के गलत उपयोग ही करती नजर आ रही है। युवा पीढ़ी के बीच सर्वाधिक लोकप्रिय इस माध्यम ने जिस तरह से सामाजिक क्षेत्र का भला किया है, ठीक उसी तरह बुरा भी किया है। नई पीढ़ी को फेसबुक की लत लग गई है। फेसबुक एक नशे की तरह हो गया है नई पीढ़ी के लिए। अपना अधिकतर वक्त फेसबुक पर ही गुजारने वाले युवक-युवती इस माध्मय का उपयोग अश्लील भावनाओं के आदान-प्रदान करने के काम में कर रहे हैं। फेसबुक ब्लैकमेलिंग का भी एक जरिया बनने लगा है, इस वजह से अब तक न जाने कितनी जिंदगियां बर्बाद हो चुकी हैं। सिर्फ यही नहीं, फेसबुक विभिन्न प्रकार के शोषण का भी जरिया बनने लगा है, इसमें यौन शोषण प्रमुख है। इसके अलावा फेसबुक गलत प्रचार करने का माध्यम भी बना हुआ है। फेसबुक में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के नाम पर कुछ लिखकर किसी को भी ब्लैकमेल अथवा झूठा प्रचार कर सकता है। हमारे असम में भी ऐसी घटना घट चुकी है। राज्य के जागरूक लोगों की धारणा है कि युवा पीढ़ी के लिए आकर्षण का केंद्र बिंदु होने के बावजूद फेसबुक आगे भविष्य में युवा पीढ़ी को ध्वंस भी कर सकता है। जिस तरह से फेसबुक का उपयोग किया जाने लगा है, यदि रफ्तार इसी तरह की रही तो आने वाले दिनों में यह युवा पीढ़ी के निए निश्चय ही एक शंका का कारण बनकर उभरेगा। लिहाजा जरूरी है कि फेसबुक के उपयोग को सीमित किया जाए। यह हम सभी की जिम्मेदारी है। एक सोशल नेटवर्किंग साइट पर बाजारू सामग्री न डाली जाए, इस पर सभी को ध्यान देना होगा। फेसबुक के नकारात्मक पहलुओं के प्रति युवा पीढ़ी में जबर्दस्त आकर्षण रहने के कारण ऐसी आशंकाएं और अधिक बलवती हो जाती हैं। मोबाइल फोन के उपयोग ने संचार माध्यम को भले ही गतिवान बना दिया हो, मगर युवा पीढ़ी के दिलो-दिमाग में अपराध भावना भरने का भी काम किया है। प्राथमिक विद्यालयों के बच्चों के हाथों में मोबाइल फोन के आ जाने से युवाओं में अपराधियों की संख्या में भी भारी इजाफा हुआ है। यही हालत फेसबुक में भी नजर आ रही है। लिहाजा सभी को समय रहते ही सर्तक हो जाना चाहिए।

डा. भूपेन हजारिका और फैशन

सुधाकंठ डॉ. भूपेन हजारिका को यदि असम के फैशन का आइकन कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। बिना किसी फैशन शो के रैंप पर कैटवाक किए उन्होंने खुद को पूरे विश्व के सामने फैशन आइकन के रूप में स्थापित करने में सफलता हासिल की। संभवत: वे ही पहले कलाकार हैं, जिन्होंने असम के जनजातीय परिधानों को दुनिया के सामने एक नए अंदाज-नए रूप में पेश किया। जनजातीय परिधान को नए अंदाज में प्रस्तुत किए जाने के फलस्वरूप असम में भी ऐसे कपड़ों की मांग बढ़ी और आज की युवा पीढ़ी भी इनको बड़े शौक से पहनने लगी है। इसी का नतीजा है कि बाजार में असम के जनजातीय परिधानों की मांग में भारी इजाफा हुआ है। लाल-नीले-पीले और हरे रंग के कपड़े पहनना पसंद करने वाले भूपेन दा अपने कपड़ों को लेकर हमेशा ही सतर्क रहते थे। फैशन के नाम पर उन्होंने विकृत संस्कृति का कभी भी प्रदर्शन नहीं किया। फैशन की दुनिया में उन्होंने जो मानदंड स्थापित किए, उन्हें आज तक कोई स्पर्श तक नहीं कर पाया है।

जनजातीय परिधानों के प्रति उनका आकर्षण कैसे बढ़ा, यह भी एक चर्चा का विषय है। असम तथा पूर्वोत्तर राज्यों का ऐसा एक भी जनजातीय इलाका नहीं है, जहां भूपेन दा नहीं गए अथवा वहां की जनजातीय संस्कृति से जुड़ी वस्तुओं-बातों का संग्रह न किया हो। दिसांगमुख में बैठकर गीत लिखने वाले भूपेन दा ने सिर्फ गीत की ही रचना नहीं की थी साथ-साथ वहां के परिधान-पोशाक आदि के बारे में भी अध्ययन किया था। इसीलिए उनके शरीर पर हमेशा नजर आने वाले जनजातीय परिधानों में परंपरागत फैशन के भी दर्शन हो जाया करते थे। विशेषकर वे जो हाफ अथवा फुल कोट पहनते थे, उनमें तो सांस्कृतिक समन्वय के दर्शन जरूर होते थे।

और डॉ. भूपेन हजारिका की टोपी। टोपी उनके व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा थी। वे बिना टोपी पहने कहीं निकलते ही नहीं थे। सभा-समारोह की बात तो छोड़ ही दें, जब वे घर पर भी होते थे तब भी उनके सिर पर काले रंग की टोपी टिकी रहती थी। वैसे तो भूपेन दा अलग-अलग प्रकार-डिजाइन की टोपियां पहना करते थे, मगर काले रंग की टोपी को वे खास तवज्जो दिया करते थे। उनके टोपी पहने हुए फोटो और बिना टोपी वाले फोटो के बीच जमीन-आसमान का फर्क नजर आता है। उनकी पहले की तस्वीरों को यदि देखें तो आज की तस्वीरों के साथ कोई एकरूपता नजर नहीं आती। कपड़े-परिधान का सीधा संबंध व्यक्ति के व्यक्तित्व से होता है। कुछ खास प्रकार के कपड़े पहनने पर अच्छे लगते हैं अथवा विपरीत प्रभाव भी डालते हैं। डॉ. हजारिका के मामले में भी यही बात दिखती है। हमने उनको जिस रूप में देखा है, उसके अलावा उनके दूसरे रूप को हमारा दिल स्वीकार ही नहीं करना चाहता। हमारे लिए भूपेन दा का मतलब ही सिर पर काली टोपी और आकर्षक चटकदार पोशाक है। इसके अलावा किसी दूसरे रूप में उनको स्वीकार कर पाना कतई संभव नहीं है। उनकी इस विशेष वेशभूषा ने सिर्फ उनके व्यक्तित्व को ही प्रभावित नहीं किया, दूसरों को भी उसे अपनाने के लिए प्रेरित किया और असमिया पोशाक-परिधान को एक नया अंदाज दिया। डॉ. भूपेन हजारिका ने यह साबित कर दिखाया कि फैशन के मामले में हम असमिया विश्व के अन्य लोगों की तुलना में किसी भी मायने में कम नहीं हैं।

ऐसी बात नहीं है कि डॉ. हजारिका के कपड़ों में ही सिर्फ फैशन झलकता था, उनके हस्ताक्षर में भी एक खास बात थी। जो एक बार उनके हस्ताक्षर देखता था, वह हस्ताक्षर पर दुबारा नजर फेरने से खुद को नहीं रोक पाता था। उनके हस्ताक्षर में भी एक जादुई शक्ति थी। भूपेन दा ने दिखा दिया कि हस्ताक्षर भी फैशन का हिस्सा अथवा आकर्षण का केंद्र बिंदु हो सकता है। असम के इतिहास में सुधाकंठ से जुड़ी तमाम बातें सुनहरे अक्षरों में लिखी हैं। और उनमें शामिल रहेगा उनका फैशन भी।

भोगाली बिहू का पीठा और व्यापारिक संभावनाएं

भोगाली बिहू के आनंद-उल्लास का मतलब ही है विभिन्न प्रकार के पीठा, चिउड़ा-दही आदि के स्वाद का लुत्फ उठाना। परंपरागत तरीके से भोगाली बिहू में सभी कोई विभिन्न प्रकार के पीठा बनाते हैं। भोगाली बिहू पर नारियल, काले तिल अथवा खोवे से बने पीठा और नारियल-तिल के लड्डुओं के भोग का आनंद ही कुछ अलग है। मगर इन परंपरागत पकवानों को बनाने के लिए जरूरी वस्तुओं की मात्रा दिन-ब-दिन कम होती जा रही है। मांग के अनुसार उत्पादन नहीं होने के कारण परंपरागत पकवानों को बनाने के काम में आने वाली वस्तुओं की कीमतों में भी भारी बढ़ोतरी देखने को मिल रही है। ऐसी स्थिति में पीठा, लड्डू, चिउड़ा-दही आदि बनाने का काम धीरे-धीरे एक उद्योग में बदलने लगा है। बेरोजगार प्रभावित असम जैसे राज्य में इस प्रकार के उद्योग के पनपने को एक सकारात्मक नजरिए से देखा जाना चाहिए। विशेषकर, शहरी इलाकों में पीठा-लड्डू आदि की मांग में हो रही भारी बढ़ोतरी को ध्यान में रखते हुए ही ऐसे लघु उद्योग पनप रहे हैं। अब तक कई उद्यमी युवा इस प्रकार के खाद्य-पकवान बनाने के धंधे में सफलता हासिल कर चुके हैं। प्लेट में आकर्षक तरीके से सजाकर रखे पीठा-लड्डू की बिक्री आशानुरूप होने के कारण हाल ही में राज्य के विभिन्न हिस्सों में स्वयं सहायता समूह इस व्यवसाय में उतर चुके हैं।

परंपरागत स्वादिष्ट पकवान प्लास्टिक के पैकेट में इतने सुंदर व आकर्षक लगने लगेंगे और उनकी मांग इस कदर बढ़ जाएगी, संभवत: पहले किसी ने सोचा ही नहीं होगा। लोगों के ख्याल में ही नहीं आया होगा कि बाजार में यह भी एक संभावनामय

व्यापार बन सकता है। सच्चाई यही है कि अंतर्राष्ट्रीय बाजार में जिस तरह से केक की मांग है, असमिया पीठा-लड्डू की मांग उससे कहीं भी कम नहीं है। इसकी वजह यह भी है कि इतने स्वादिष्ट पकवान बाजार में बहुत कम ही मिलते हैं।

असम में बेरोजगारों का पहाड़ लगा हुआ है। सभी के लिए नौकरी ले-दे पाना संभव भी नहीं है। लिहाजा इस प्रकार के उद्योग में खुद को शामिल कर आत्मनिर्भर बनने का सुनहरा मौका अब असम के युवाओं के हाथ लगा है। प्रसंगवश यह भी चर्चा करनी होगी कि पहले पीठा-लड्डू की मांग विशेषकर बिहू के आसपास ही देखने को मिलती थी, मगर आजकल तो बारह महीने बाजार में पीठा-लड्डुओं की जमकर बिक्री होती है। बिहू तथा अन्य उत्सव के मौके पर तो बाजार में उमड़ी खरीददारों की भीड़ के आगे पीठा-लड्डू भी कम पड़ जाते हैं। इससे भी बड़ी और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पीठा-लड्डू अब सिर्फ असमिया ही नहीं, अन्य समुदायों के बीच भी खासे लोकप्रिय हो चुके हैं और अन्य समुदाय के लोग भी पीठा-लड्डू का स्वाद चखने के मामले में किसी असमिया परिवार से पीछे नहीं हैं।

पीठा-लड्डू में किसी भी प्रकार के कृत्रिम रंग का उपयोग नहीं किए जाने के कारण इसका जो असली स्वाद और गुण है, वह यथावत् रहता है। यह बात भी सही है कि पीठा-लड्डू को अधिक दिनों तक टिका कर रखने के लिए किसी भी प्रकार के कैमिकल का उपयोग नहीं किए जाने के कारण यह बहुत कम दिनों तक खाने योग्य रहते हैं। चूंगा पीठा-तिल पीठा तो एक सप्ताह बाद से ही खराब होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में यदि सही वैज्ञानिक कोशिशें की जाएं तो पीठा-लड्डुओं को और अधिक दिनों तक खाने योग्य बनाकर रखा जा सकता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने घोषणा कर रखी है कि स्वास्थ्य के लिए कुछ दवाओं का यदि तय मात्रा में उपयोग किया जाए तो चिंता का कारण नहीं है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की इस नीति पर अमल करते हुए हम यदि पीठा-लड्डू को अधिक दिनों तक खाने योग्य बनाए रखते हुए बेच सकें तो इससे ऐसे पकवानों का बाजार और भी अधिक बड़ा होगा। इसके अलावा अंतर्राष्ट्रीय बाजार में असम के पीठा-लड्डू का स्थान बनाने के लिए इसके पैकेटिंग को और अधिक आकर्षक बनाए जाने की जरूरत है। यह बात भी सही है कि इसको बनाने का अधिकार बाहरी राज्य के किसी व्यापारी को न मिल जाए, इसके लिए भी हमें सावधान रहना पड़ेगा। सुवालकुची के पाट-मूंगा के कपड़े के व्यापार की तरह कहीं यह दूसरों के हाथों न चला जाए, इसके लिए हमें अभी से सावधान रहने की जरूरत है।

लोकतंत्र जहां प्रधान है

एक तरह से यदि देखा जाए तो भारतीय लोकतंत्र कामयाबी और नाकामियों के बीच झूलता नजर आता है। हमारे देश के एक हिस्से में जहां लोकतंत्र जिंदाबाद के नारे लगते हैं, वहीं दूसरी ओर इसके विरोध के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। हमारे देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था को भले छह दशक से अधिक का लंबा समय गुजर गया हो, मगर आज भी भारतीय लोकतंत्र को लेकर अलग-अलग स्वर सुनाई पड़ते हैं। कोई इस लोकतंत्र को सफल बताता है तो कोई असफल और अपने-अपने पक्ष में सभी की अपनी-अपनी दलीलें भी हैं।

जनसंख्या की दृष्टि से यदि देखा जाए तो भारतीय लोकतंत्र विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है और इसीलिए विश्व के विभिन्न देश भारतीय लोकतंत्र को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। हमारे देश के लोकतंत्र की प्रशंसा करते नहीं अघाते। सचमुच एक सौ बीस करोड़ की आबादी वाला है हमारा देश और बिना किसी झमेले के इतनी बड़ी आबादी वाले देश की शासन व्यवस्था भी आराम से चल रही है। समय पर देश भर में चुनाव भी होते हैं। परिस्थितिवश यदि मध्यावधि चुनाव भी कराने पड़ें तो वह भी शांतिपूर्वक ढंग से संपन्न होते हैं। देश में चुनाव कराने के लिए गठित संस्था-भारतीय चुनाव आयोग को भी अपने हिसाब से काम करने का अधिकार है। देश की जनता भी बड़ी संख्या में मतदान केंद्रों पर जाकर मतदान करती है, अपने

पसंद के उम्मीदवारों को जिताती है और जो पसंद नहीं आते, उन्हें दरकिनार भी कर देती है। कभी-कभी पहले चुनाव में भारी मतों से जीत हासिल करने वाले उम्मीदवार को दूसरी बार बड़े अंतर से पराजित होते देखा गया तो कभी-कभी अगले साल के पराजित उम्मीदवार को बाद में भारी मतों में जीतते हुए भी देखा गया। यह सब कुछ सिर्फ और सिर्फ जनता की मर्जी से हुआ है। भारतीय लोकतंत्र के सौजन्य से ही यह सब संभव हो पाया है। हमारे देश के नागरिक को अपनी इच्छा से धर्म-चर्चा, संस्कृति-साहित्य चर्चा और विज्ञान व राजनीति पर चर्चा करने का अधिकार मिला हुआ है। इसके अलावा भारतीय जनता को संगठन बनाने, आंदोलन करने और यहां तक की सत्ताधारी दल का विरोध तक करने का अधिकार है। इन सभी पहलुओं को ध्यान में रखते हुए भारतीय लोकतंत्र को सफल कहा जा सकता है।

मगर साथ ही साथ यह भी सवाल उठता है कि लोकतंत्र की सफलता के लिए क्या इतना ही काफी है। कहीं यह सब भारतीय लोकतंत्र की बाहरी चमक-दमक तो नहीं है। ऐसे सवालों को हम सिरे से तो खारिज नहीं कर सकते। क्योंकि जिस देश की आधी से अधिक आबादी गरीबी और निरक्षरता के चंगुल में फंसी हो, जिस देश में विभिन्न प्रकार के काले कानून लगातार जनता की सांसों को रोके हुए हों, जिस देश की जनता को रोज-रोज पुलिस, अर्द्धसैनिक बल और सेना के जवानों द्वारा किए जा रहे दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ता हो, जिस देश में बिना रोक-टोक तथाकथित 'नेता' घोटाले-भ्रष्टाचार में लिप्त रहने के बावजूद बिना सजा पाए रह सकता हो, उस देश के लोकतंत्र को निश्चय ही सफल लोकतंत्र तो नहीं कहा जा सकता।

मगर दोनों पक्षों की दलीलें सुनने के बाद हमें एक बात पर ध्यान देना होगा कि भारत के साथ-साथ विश्व के अन्य देशों ने ब्रिटिश अथवा अन्य औपनिवेशिक ताकतों से स्वाधीनता हासिल की थी, उन देशों की स्थिति क्या है। अधिक दूर जाने की जरूरत नहीं है, यदि हम अफगनिस्तान, पाकिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका, म्यांमार आदि दक्षिण एशिया के देशों की ओर ध्यान दें तो देखेंगे कि इनमें से कोई देश यदि गृहयुद्ध के चंगुल में फंसा है तो किसी देश में सैनिक ताकत के प्रभाव के सामने लोकतंत्र पंगू बना नजर आता है। कोई-कोई देश धार्मिक कट्टरवाद के कब्जे में फंसा नजर आता है। ऐसी स्थिति में भी भारत में न्यूनतम लोकतांत्रिक व्यवस्था और मूल्य बचे हुए हैं। यह निश्चय ही सिरे से खारिज अथवा नजरअंदाज कर देने वाली बात नहीं है।

मगर यहां एक अन्य सवाल भी पैदा होता है कि इस देश में लोकतंत्र को स्थापित हुए छह दशक से अधिक का अरसा गुजर जाने के बाद सिर्फ न्यूनतम लोकतांत्रिक

व्यवस्था और मूल्यों को लेकर ही क्या हमें संतोष कर लेना चाहिए। इतने में ही संतोष कर लेना क्या उचित होगा। हमें यह उम्मीद तो जरूर करनी चाहिए कि हमारा देश भी अमरीका, ब्रिटेन अथवा अन्य राष्ट्रों की तरह बालिग लोकतांत्रिक राष्ट्र बने। जिस राष्ट्र में सभी नागरिकों के अधिकार सुरक्षित रहेंगे, सभी प्रकार के भेदभाव का अंत होगा, गरीबी, भ्रष्टाचार, निरक्षरता नहीं रहेगी और सभी नागरिक लोकतांत्रिक मूल्यों को हासिल कर सुखी रह सकेंगे।

मगर ऐसी उम्मीद करने के बाद हाथ पर हाथ धरे बैठने से ही नहीं होगा। इसकी उम्मीद करना जैसे हमारा हक है, वैसे ही इस प्रकार के लोकतंत्र के विकास में सहयोग करना अथवा योगदान करना हमारी जिम्मेदारी भी है। लोकतंत्र में जनता के द्वारा, जनता के लिए जनता की सरकार होती है, लिहाजा इस व्यवस्था में जनता ही प्रमुख है। हमारे देश की जनता के अपनी इस महत्त्वपूर्ण उपलब्धि को महसूस करते हुए अधिकार के साथ-साथ कर्त्तव्य के प्रति जागरूक होने से ही हमारा लोकतंत्र पूर्ण रूप से विकसित हो पाएगा और इसे विश्वपटल पर सम्मान हासिल होगा। हमें याद रखना चाहिए कि यूरोप के लोगों को जब कपड़े तक पहनना नहीं आता था, उस वक्त भी हमारे देश में लोकतंत्र था। हमारी इस ऐतिहासिक धरोहर के प्रति हमें श्रद्धावान तो होना ही चाहिए।

भूपेन दा का भी लगना चाहिए मोम का बना बूत

डॉ. भूपेन हजारिका की कला को संरक्षित कर सहेज कर रखना हम सभी की जिम्मेदारी है। उनका कहा हर एक शब्द, हर एक बात विश्ववासियों के लिए अनुकरणीय है। उनकी कला, रचना, गीत-संगीत हमेशा-हमेशा के लिए संरक्षित रहे, यह सभी की कामना है। जहां-तहां बिखरी पड़ी भूपेन दा की यादों के अलावा अन्य सभी बातों को संरक्षित कर रखना उनके हर एक प्रशंसक की जिम्मेदारी है। किसी स्थान पर यदि डॉ. भूपेन हजारिका की मूर्ति स्थापित की गई है तो कहीं उनके नाम पर उद्यान खोले गए हैं। इसके अलावा राज्य में जगह-जगह संगीत विद्यालय, संघ-संगठन, क्लब आदि का नामकरण भी उन्हीं के नाम पर किया गया है। असम गौरव इस कलाकार के नाम पर स्थापित पुस्तकालय, संगठन आदि आगे चलकर संरक्षण के अभाव में जर्जर न हो जाए, इस दिशा में भी हम सभी को ही ध्यान रखना होगा। यदि हम सिर्फ आवेश में आकर इन सब का निर्माण करते हैं तो उसके द्वारा कलाकार की स्मृति से जुड़े संस्थानों के मामले में भी सवाल पैदा होंगे। आवेश में आकर कोई काम करने पर उसके नतीजे स्थायी नहीं हो सकते, इस बात को निश्चित ही दोहराने की जरूरत नहीं है। इस प्रकार की स्मृतियां सिर्फ मानस पटल पर ही रह जाती हैं, हकीकत में नहीं।

सुधाकंठ के निधन के समय पूरे राज्य में शोक की जो लहर बही थी और जगह-जगह स्मृति शोध निर्माण, संस्थान-संगठन की स्थापना और उनके नाम पर नामकरण करने की जो होड़ मची थी, वैसा दृश्य विश्व में अन्य कहीं देख पाना मुश्किल है। पॉप संगीत स्टार माइकल जैक्शन के निधन के समय भी शोक की ऐसी लहर देखने को नहीं मिली थी, मगर जैक्शन को मैडम तुसाद में जगह मिली थी। मैडम तुसाद नामक संग्रहालय लंदन में स्थित है, जहां विश्व के प्रख्यात लोगों की मोम से बनी मूर्तियां प्रदर्शित की जाती हैं।

डॉ. हजारिका के कार्यों का यदि हम ठीक से मूल्यांकन कर पाएं तो उनको मैडम तुसाद में जगह नहीं मिल पाने की कोई वजह ही नहीं है। डॉ. हजारिका के व्यक्तित्व में कौन से गुण-विधा नहीं थे। वे गायक, गीतकार, संगीत निर्देशक, फिल्म निर्देशक,

चित्रकार और न जाने क्या-क्या थे। मालूम हो कि मैडम तुसाद में जगह देने के लिए हर साल विश्व की दस विभूतियों का चयन किया जाता है। विश्ववासियों के लिए उल्लेखनीय काम करने वाले व्यक्ति को इस संग्रहालय में स्थान दिए जाने से वह व्यक्ति सभी के आकर्षण का केंद्र बिंदु बना रहता है। इसीलिए यदि हम डॉ. हजारिका के कार्यों को सही ढंग से प्रस्तुत कर पाएं अथवा उनके कार्यों का सही ढंग से मूल्यांकन कर पाएं तो उन्हें निश्चय ही इस संग्रहालय में स्थान मिल सकता है। डॉ. हजारिका का व्यक्तित्व अंतर्राष्ट्रीय ख्याति संपन्न था, मगर हमने उनको जीवन भर एक ही दायरे में कैद कर रखा था। इस महान कलाकार के गीतों का यदि अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया जाए तो विश्व के अन्य देशों के लोग भूपेन दा के गीतों की गंभीरता को समझ सकेंगे। उनके गीतों का जितना प्रचार होगा, उतना ही उनका दायरा भी बढ़ेगा और उन पर चर्चा भी होगी। देखा जाए तो पूरी दुनिया में हजारों गीतों की रचना कर उन्हें सुर देने वाले बहुत कम ही कलाकार निकल कर सामने आएंगे। अपने गीतों के आधार पर चित्र बनाने की विलक्षण प्रतिभा भूपेन दा में ही थी। उनमें वह अंतरदृष्टि छिपी थी, जिसके दम पर वे समाज के हर तबके के लोगों के दिलों में झांक सकते थे, उनकी भावनाओं को समझ सकते थे। वे हारे को ढांढ़स बंधाते थे और अपना सब कुछ खो चुके व्यक्ति को फिर से उठ खड़े होकर नए मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते थे। देशवासियों को राष्ट्रसेवा के लिए प्रेरित करने वाले भूपेन दा अपनी जाति के लिए कुछ करने की ललक जगाते हुए लोगों को घरों से निकल आने का आह्वान करते थे। उन्होंने गीत के माध्यम से असम के युवाओं को कर्म की महत्ता का पाठ पढ़ाया था। आज सवाल उठता है, ऐसे महान कलाकार का क्या हम आज भी सही मूल्यांकन कर पाए हैं। लाखों की संख्या में लोगों द्वारा जज फील्ड में रखे उनके नश्वर देह पर पुष्प-श्रद्धांजलि अर्पित कर देना ही क्या काफी था।

डॉ. भूपेन हजारिका के गीत, संगीत, सुर, रचना आदि को सदा-सदा के लिए संजोकर रखना अब हमारी जिम्मेदारी है। उनके निधन के बाद आवेग में आकर हमने बहुत-सी बातें कही हैं। उनके गीत सार्वजनिक स्थानों पर कम से कम आधे घंटे तक बजने चाहिए, जैसी बहुत-सी मांगें भी सरकार-जनता के सामने रखी गईं। बाद में हम सारी बातों को धीरे-धीरे भूलने लगे। इसी तरह चलती रहेगी प्रक्रिया, कुछ दिन, कुछ साल और कई दशक। इसी तरह हम भी भूल जाएंगे और अपनी आने वाली पीढ़ी को उनके बारे में सिर्फ इतना भर ही बता पाएंगे-डॉ. भूपेन हजारिका नाम के एक गायक हुआ करते थे।

कहां गए चिट्ठियों का बोझ ढोने वाले डाकिए

डाकवाले कहां चले गए। डाकिया किसी प्रियजन की चिट्ठी लेकर आएगा, इस उम्मीद में घर के बरामदे में खड़े होकर लंबा इंतजार करने के दिन अब नहीं रहे। अब मोबाइल फोन का समय है। कहते हैं लामडिंग में बैठकर मोबाइल फोन का बटन दबाते ही खबर फरकाटिंग पहुंच जाती है। वैश्विकरण ने दुनिया को बहुत छोटा कर दिया है। इंटरनेट के जरिए दुनिया का एक छोर दूसरे छोर के साथ जुड़ जाने के बाद तो लगता है पूरी दुनियां ही एक बड़े गांव के स्वरूप में बदल चुकी है। इस बड़े गांव में अब तो बेचारे डाकिए की भी कोई जरूरत नहीं रह गई है। इसीलिए अब हो सकता यह गाना भी सुनने को नहीं मिलेगा–डाकिया डाक लाया, डाकिया डाक लाया, खुशी का पैगाम लेकर डाकिया डाक लाया। अपने दिल में दर्द का समंदर लिए अन्य लोगों को खुशियों की खबरें बांटने वाले डाकिए के युग का मानो अब अंत होने को है। टेलीग्राम सेवा तो बंद हो ही चुकी है, क्या पता आगे भविष्य में कभी डाक विभाग ही बंद हो जाए।

यहां डाक लाने वालों का वक्त गुजर जाने का तात्पर्य चिट्ठियों के आदान–प्रदान के कम हो जाने से है। प्रियजनों को भेजे जाने वाले बधाई पत्र अथवा बधाई संदेश लिखे कार्ड आज के दिन पूरी तरह से उपेक्षित नजर आने लगे हैं। एसएमएस नामक शब्द ने तो चिट्ठी की प्रासंगिकता को ही खत्म कर दिया है। एक लंबे अंतराल के बाद अपने किसी प्रियजन की चिट्ठी को पाकर दिल में जो भाव उठते थे अथवा जो आनंद मिलता था, वैसा आनंद एसएमएस प्राप्त करने पर नहीं मिलता। लगता है अनुभूति की जगह यांत्रिकीकता ने ले ली हो। अब किसी का दिल धक–धक नहीं करता, क्योंकि अब न तो वह चिट्ठी ही आती, जिसे खोलकर देखते समय दिल की धड़कनें तेज हो जाया करती थीं और न ही साइकिल की घंटी बजाते हुए डाकिया ही आता है। घर के अन्य सदस्यों की आंखों में धूल झोंकते हुए मौका मिलते ही डाकिए के हाथ से चिट्ठी को झपटने की बातें तो अब किसी कहानी का हिस्सा जैसी लगने लगी है।

डाकिया जब लिफाफा लेकर आता था तो उस बेचारे को पता भी नहीं होता था कि उस लिफाफे के अंदर रखी चिट्ठी में क्या समाचार है। किसी लिफाफे में जन्म, विवाह अथवा नौकरी मिलने जैसी खुशखबरी लिखी होती थी तो किसी-किसी में दुखदायी समाचार भी होते थे। अब जिस दिन से डाकियों की आवाजाही कम हुई है, ऐसे लिफाफों का आदान-प्रदान भी कम होता जा रहा है। बदलते समय के साथ-साथ यह दुनिया भी कितनी बदल गई है।

सात समंदर, तेरह नदियों के पार से आने वाली चिट्ठी को अब कौन लेकर आएगा, कौन खोलकर देखेगा-पढ़ेगा। छिप-छिपकर चिट्ठी पढ़ने की मादकता को क्या आज के दिन महसूस किया जा सकता है। जवाब है-नहीं, क्योंकि अब तो उस जान-पहचान वाले डाकिए के दर्शन तक नहीं होते। और न ही कोई अपने प्रिय डाकिए का अब इंतजार ही करता है। डाकिए की चिट्ठी लेकर आने की बातें अब किसी कहानी जैसी लगती है। और रही डाकिए की बात तो वह बेचारा भी तो रातों को ठीक से सो नहीं पाता, क्योंकि अब तो उसके पास कोई काम ही नहीं रह गया है। स्नेह, प्यार और सुख के पैगामों से भरी दूसरों की चिट्ठियां अब डाकघर में नहीं आतीं। पहले उन चिट्ठियों के लिए लोग अपने घरों के दरवाजों पर खड़े रहते थे। एक चिट्ठी के लिए न जाने कितने समय तक इंतजार किया करते थे। यह देख डाकिया भी स्वयं पर गौरवान्वित महसूस करता था। कभी-कभी चिट्ठी में दुखद समाचार पढ़ किसी को रोते देख उसका दिल भी रोने लगता था और दोनों कोरें भींग जाया करती थीं। मगर अब उसे यह सब सहन करना नहीं पड़ेगा। क्योंकि अब तो काम के नाम पर उसके पास कुछ भी नहीं रह गया है। आजकल उसकी डाकघर जाने की इच्छा ही नहीं होती। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि डाकघर अब उसे खाली-खाली सा लगता है। कहीं से एक भी चिट्ठी नहीं आती। अब तो उसे घर में भी सूनापन लगता है, इसलिए वह अधिक समय तक घर में टिक कर नहीं रह पाता। अभी तक दशक पहले की ही बात है, जब लोगबाग भी उस पर ध्यान देते थे। डाकघर के सामने से गुजरने वाला हर एक व्यक्ति बिना उसे आवाज लगाए आगे नहीं बढ़ता था। इसके लिए वह स्वयं को अपने इलाके का एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझने लगा था, मगर अब? सड़क से वाहन गुजर जाते हैं, धूल से भर जाता है डाकघर। कोई उसकी ओर नजर उठाकर भी नहीं देखता। कभी वह भारी मन लिए अपनी प्रेयसी के घर भी जाता है, मगर वहां भी तो उसका दिल नहीं लगता। किसी को चिट्ठी लिखानी होगी, इसके लिए उसके पास पर्याप्त समय भी है, क्योंकि वह अकेला डाकवाला है।

श्रीमती देवी : ममता का दूसरा रुप

श्रीमती देवी नाम है उनका। 75 की उम्र पार कर चुकी हैं। प्रकृति के नियमानुसार उन्हें भी बुढ़ापा आ चुका है। नलबाड़ी जिले के बेलसर नामक गांव की इस बूढ़ी महिला के काम-काज में आज भी तरुणी की चपलता दिखाई देती है। एक बड़े परिवार के लड़के-लड़कियों की देखभाल में जुटी इस महिला ने आज तक बुढ़ापे को अपने पास फटकने तक नहीं दिया है। तड़के 5 बजे उठने के बाद से ही श्रीमती देवी बच्चों की देखभाल में लग जाती हैं। करीब तीन दर्जन बच्चों को संभालने में लगी इस महिला से मिलने के बाद जब उनके सेवा भाव के बारे में जाना तो सर नतमस्तक हो गया।

गुवाहाटी महानगर के निकटवर्ती जालुकबाड़ी में स्थित असम बाल कल्याण सदन में पिछले पांच दशकों से अपनी सेवाएं दे रही इस ममतामयी महिला ने कल्याण सदन के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए क्या-क्या नहीं किया। सदन के बच्चों को दो वक्त का खाना खिलाने के लिए कभी दर-दर पर जाकर भीख मांगी तो कभी निकल पड़ी बच्चों को लेकर वनभोज के लिए। 1969 से मानव सेवा में लगी इस महिला ने समय के परिर्वतन को बड़ी ही बारीकी से देखा-समझा है। पाने-न पाने को लेकर

उनके मन में कोई शिकायत नहीं है। भगवान की मर्जी-भगवान जो करे, वही परम सत्य है-के सिद्धांत पर चलने वाली श्रीमती देवी सिर्फ कर्म पर विश्वास रखती हैं। उनके लिए कर्म ही धर्म है। वे कहती भी हैं, भगवान ने हम सभी को मानव सेवा करने के लिए ही इस दुनिया में भेजा है, जिसके लिए वे सदैव तैयार रहती हैं। पिछले कई दशकों से सदन के बच्चों की देखभाल में अपने दिन-रात एक कर देने वाली इस महिला के चेहरे पर आज भी थकान के चिन्ह नजर नहीं आते।

असम बाल कल्याण सदन का एक प्रेरक व्यक्तित्व है श्रीमती देवी। ब्राह्मण विधि व्यवस्था के अनुसार बाल्यकाल में ही विवाह हो जाने के बाद वे सिर्फ दो दिन ही अपने ससुराल में रहीं। वह दुल्हन का शृंगार कर, मांग में सिंदूर भर ससुराल में सुखी संसार का आनंद नहीं उठा पाईं। श्रीमती देवी ने उसे भी अपनी जिंदगी का एक हिस्सा मान लिया है। उनके जीवन के आए घात-प्रतिघात के बारे में पूछने पर वे इन सब को भगवान की मर्जी ही बताती हैं। उनका कहना है कि भगवान की मर्जी के बिना हम एक पत्ता भी नहीं हिला सकते। शादी के बाद मात्र दो दिन ही ससुराल में रही थीं। बहुत छोटी उम्र में ही शादी हो जाने के कारण संसार में सुख-दुख क्या होता है, वह समझ ही नहीं पाईं। जब शादी का मतलब समझ पाई, तब तक तो आधी जिंदगी ही गुजर चुकी थी। सुख का संसार जब मिला ही नहीं तो यह तय किया कि मानव सेवा के माध्यम से सभी को एक परिवार की तरह रखूंगी। घटना क्रमवश एक दिन डॉ. नालिनी शर्मा उनको गुवाहाटी ले आई। उसके बाद गुवाहाटी की एक महिला समिति में रही और ऊषा दास, अमलप्रभा दास, समीरन दास आदि के साथ काम किया। बाद में मालती बरुवा, रमा देवी उन्हें बाल सदन में ले आईं।

श्रीमती देवी बताती हैं कि वे 1969 में जब बाल सदन में आई थीं, तब यहां बच्चों की संख्या मात्र एक दर्जन थी। किसी द्वीप की तरह चारों ओर पानी से घिरा टीन का एक घर था। बरसात होने पर तो मुसीबत ही आ जाती थी। बाढ़ के दिनों में आश्रम तक जाने का कोई रास्ता तक नहीं बचता था। केले के पेड़ से बनी परंपरागत नाव से बच्चों को स्कूल लाना-ले जाना पड़ता था। वे दिन कितने तकलीफदेह थे। तब हेम भराली, हेम काकोती आदि केले के पेड़ से बनी नाव पर सवार होकर बाल सदन की देखभाल करने के लिए आया करते थे। मैदान के बीच स्थित सदन में चार कमरे थे। उस दौर में सदन को चंदा-आर्थिक सहयोग करने वालों की संख्या भी आज की जितनी नहीं थी। लिहाजा 12 बच्चों का पेट पालने के लिए मुझको दो साल तक लोगों के घर-घर जाकर भीख भी मांगनी पड़ी थी। सुबह-सुबह भीख मांगने

निकल पड़ती थी, कोई कुछ दे देता था, कोई खरी-खोटी सुनाने से भी बाज नहीं आता था। कोई तो दुत्कारते हुए दरवाजे से खदेड़ भी देता था। मगर अनाथ बच्चों के चेहरों को देख सारे दुख चुपचाप सहन कर जाती थी, क्योंकि यह मंदिर सरीखा सदन ही उनका अंतिम ठिकाना जो था।

दूसरों के बच्चों को अपने सीने से लगाकर कई दशकों तक चुपचाप बाल सदन की सेवा करने वाली श्रीमती देवी की सुध लेने वाला कोई नहीं है। इस पर उन्हें किसी से कोई गिला-शिकवा भी नहीं है। उनका मकसद प्रचार पाना नहीं, मात्र मानव सेवा करना है। इस महिला के सीने की गरमाहट पाकर न जाने कई बच्चे उच्च अधिकारी बन गए। बहुत से बच्चे अपने सुखी संसार में मस्त-व्यस्त हैं। इन्होंने सभी बच्चों को सही मायने में सच्चा इंसान बनाकर ही सदन (आश्रम) से विदा किया है। एक मां की तरह बच्चों का लालन-पालन किया है। जरूरत पड़ने पर बच्चों के प्रति कठोर भी हुई है। प्यारे बच्चों पर शासन करने के लिए उनकी पिटाई भी की है। आज भी वह सुबह के 5 बजते ही बिस्तर से उठ जाती हैं। काम में व्यस्त हो जाती हैं और अपने प्यारे बच्चों की देखभाल में अपना पूरा दिन खपा देती हैं, क्योंकि वह जानती है यही उनका परिवार है-यही उनका संसार है।

लोक कलाकार गोकुल पाठक

कामरूपिया लोकगीत गायक गोकुल पाठक को सिर्फ एक गायक कहना गलत होगा। वे एक गायक के अलावा गीतकार, नाट्यकार, अभिनेता, कवि, पत्रकार, सांस्कृतिक इतिहास के जानकार और समाज सेवक जैसी प्रतिभाओं के भी धनी हैं। इतना कुछ होने के बावजूद यह कलाकार सदैव प्रचार माध्यम से दूर रहा। उनके लिए एक कलाकार के लिए प्रचार में रहने से जरूरी समाज के विकास में अपनी भागीदारी निभाना अधिक महत्त्वपूर्ण है। कामरूपिया लोकगीत के साधक श्री पाठक बचपन से ही अटूट रूप से संगीत साधना में लगे हैं। आज अस्सी साल से अधिक की उम्र पार कर चुकने के बाद भी वे सृजनशीलता की अपनी इस साधना को जारी रखे हुए हैं। इस मामले में उन्होंने कभी भी किसी के भी साथ कोई भी समझौता नहीं किया। वे लोकगीतों की जो एक विशेष धारा है, उसे आज भी जिंदा रखे हुए हैं। इस संदर्भ में हेमंग विश्वास ने लोकगीत कलाकार श्री पाठक के बारे में कहा था– कामरूपिया गीत में ओजापाली के साथ ही भाटियाली और भावाइया का मधुर समन्वय है और कभी-कभी इसमें बिहू गीत की भी झलक देखने को मिल जाती है। श्री पाठक के कई गीत आज कामरूपी लोकगीत की धारा को समृद्ध किए हुए हैं। उनकी सार्थकता का नतीजा है कि उनके कई गीत पूरे असम में कामरूपी लोकगीत के रूप में बेहद लोकप्रिय हैं।

जीवन की यथावता को नजरअंदाज कर परंपरा और अनुशासित जीवन के प्रति अपनी अनास्था प्रकट कर अपनी रुचि और पसंद से कंटकपूर्ण जीवन में सुर और

रचनाओं के कमल खिलाकर एक अलग धारा में अपना जीवन यापन करने वाले श्री पाठक ने हर एक क्षेत्र में अपना योगदान दिया है। मगर आज भी उनके योगदान का सही ढंग से मूल्यांकन नहीं हो पाया है। आर्थिक किल्लत में रहने के बावजूद सृजनता के मामले में वे कभी भी पीछे नहीं हटे।

एक पत्रकार के रूप में श्री पाठक के बारे में वरिष्ठ पत्रकार राधिका मोहन भागवती की टिप्पणी है- पत्रकार पाठक सामाजिक जिम्मेदारियों का दूसरा रूप है 'आमार देश' जो लोक कलाकार, साहित्यकार, निबंधकार के रूप में भी श्री पाठक की ख्याति है। इन सभी गुणों को मिलाकर गोकुल पाठक के सामाजिक मूल्य और नजरिए का विस्तार से विश्लेषण किए जाने की जरूरत है। इन सभी बातों को समेटते हुए मेरा यह कहने को मन करता है कि पाठक के विराट रूप को राष्ट्रीय स्वीकृति मिलनी चाहिए। उन्होंने निश्चय ही स्वीकृति पाने की बात को सोचकर अपनी साधना प्रारंभ नहीं की होगी, फिर भी इस दिशा में समाज की भी कोई जिम्मेदारी बनती है। असमिया समाज में श्री पाठक का जो योगदान है, उसे सिर्फ बरपेटा तक ही समेट कर नहीं रखा जा सकता। रेडियो के साथ 14 साल से अधिक समय तक जुड़े रहकर वे लोकगीतों के माध्यम से असम की जनता में बेहद जाने-पहचाने हो गए हैं। यह भी श्री पाठक के सिर्फ व्यक्तित्व का ही प्रसार है। उनकी 'बरपेटा सत्र का इतिहास' पुस्तक असमिया साहित्य संपदा में एक अमूल्य योगदान है।

श्री पाठक एक विराट हृदय के व्यक्ति हैं, इसलिए न तो किसी के प्रति उनकी कोई शिकायत है और न ही नाराजगी। कोई उनको लेकर हंसी-मजाक करने पर भी वे उस बात को पल भर में भुला देते हैं। इसी कारण जो उनके मित्र नहीं हैं वे भी उनके सामने अपना सर झुकाते हैं। दूसरे की सृजनशीलता के प्रति सम्मान प्रकट करना उनका एक विशेष गुण है। एक कलाकार यदि दूसरे कलाकार की कला का सम्मान नहीं कर पाए तो वह कभी भी अपनी कला को खूबसूरत नहीं बना सकता। भले ही पाठक वामपंथी विचारधारा वाले व्यक्ति हों, मगर वे किसी के द्वारा उपेक्षित नहीं हैं। एक लोक-कलाकार के रूप में श्री पाठक हमेशा से ही अपनी कलम और कंठस्वर का इस्तेमाल करते रहे हैं।

मामोनी बाईदेउ : मानवता की मूरत

वैसे तो उनका नाम डॉ. इंदिरा गोस्वामी है, मगर देश-दुनिया के लोग उन्हें मामोनी रायसम गोस्वामी के नाम से ही जानते हैं। अभी कुछ ही दिन हुए हैं कि भगवान ने उनको हम सब से हमेशा-हमेशा के लिए छीन लिया। लोगों में इंदिरा गोस्वामी अथवा मामोनी रायसम गोस्वामी के नाम से विख्यात यह महिला असमवासियों के लिए 'बाईदेउ' (बड़ी बहन) है। डॉ. भवेंद्र नाथ सइकिया जिस तरह से सार्वजनिक रूप से 'सर' और डॉ. भूपेन हजारिका हर उम्र के लोगों के लिए 'भूपेन दा' हैं, उसी तरह मामोनी रायसम गोस्वामी भी सभी की 'बाईदेउ' हैं, चाहे वह किसी भी उम्र का व्यक्ति क्यों न हो। मगर हो सकता है बहुत से लोगों को यह जानकारी नहीं है कि मामोनी रायसम गोस्वामी सचमुच सभी के लिए एक बहुत प्यार करने वाली बाईदेउ थीं। जो लोग उन्हें सिर्फ सामाजिक सम्मान देने अथवा अपने संस्कारवश बाईदेउ कहकर पुकारते थे, उन सभी को वे अपने सगे छोटे भाई की तरह ही मानती-प्यार करती थीं। मैं स्वयं इस बात का उदाहरण हूं।

बाईदेउ के साथ मेरा परिचय लगभग एक दशक पुराना है। गुवाहाटी के विभिन्न आयोजन, सभा-समारोह में लगातार मुलाकातें होने के बाद उनके साथ मेरा परिचय हुआ था। बाद में पाठशाला साहित्य सभा के अधिवेशन में जब मैं उनको अपने साथ लेकर गया, तब बाईदेउ को और अधिक निकट से जानने-समझने का अवसर मिला और उनके साथ मेरी घनिष्ठता भी बढ़ी। तभी मैं जान पाया था उनकी मनोवृत्ति को। समझ पाया था उनके विराट व्यक्तित्व, प्रज्ञा और प्रसिद्धि में छिपे बाल सुलभ हृदय

को। पाठशाला आने-जाने के दौरान रास्ते में उनके द्वारा पूछे जाने वाले सवाल पाठशाला से संबंधित ही थे। इस छोटे से नगर के अतीत, इतिहास, आर्थिक स्थिति, सामाजिक माहौल, शैक्षणिक विकास, सांस्कृतिक चर्चा- इन सभी विषयों को लेकर उनके बाल सुलभ हृदय में मुझे गजब का कौतूहल नजर आया। बाद में जाकर मैं यह समझ पाया था कि वह बाल सुलभ कौतुहल ही था मोमोनी रायसम गोस्वामी की विशाल प्रज्ञा का असली आधार। वैसा कौतूहल होने के कारण ही वे अपने दिलो-दिमाग में ढेर सारी जानकारियों को संजोकर रख पाई थीं।

मामोनी बाईदेउ की सहृदयता तथा दूसरों की मदद करने की उनकी मानसिकता को लेकर उनके निधन के आगे-पीछे काफी चर्चाएं हुई थीं। मगर मैं स्वयं को इसलिए भाग्यवान समझता हूं, क्योंकि मुझे भी मामोनी बाईदेउ से सीधी मदद हासिल थी। जब बाईदेउ को पता चला कि मुझे भी थोड़ा बहुत लिखने-पढ़ने की आदत है तो वे समय-समय पर मुझे विभिन्न प्रकार की किताबें-साहित्य आदि पढ़ने को दिया करती थीं। इसके अलावा उन्होंने कुछ किताबों के नाम भी लिखकर दिए थे और कहा था कि इन किताबों को संग्रह कर मैं जरूर पढ़ूं। बाईदेउ हमेशा कहती थीं अच्छा लिखना हो तो अच्छा पढ़ना जरूरी है। वह कहती थीं कि बिना गहराई से अध्ययन किए अच्छा लेखक बनना असंभव है। इसके अलावा अध्ययन में वे विचित्र विषयों को भी शामिल करने पर भी जोर देती थीं। बाईदेउ कहती थीं कि विचित्र अनुभव मनुष्य की मनोवृत्ति को समृद्ध करती है और यही समृद्धि लेखक के जीवन को समृद्धि प्रदान करती है। बाईदेउ के अनुसार पश्चिमी जगत के अधिकांश प्रख्यात लेखक अपने विचित्र कार्यों से मनोजगत को समृद्ध करते रहे हैं और आज भी कर रहे हैं। मगर हमारे यहां का माहौल, स्थिति, समाज व्यवस्था, आर्थिक स्थिति आदि के परिप्रेक्ष्य में, चूंकि मध्य तबके से ही लेखक, बुद्धिजीवी लोग उभरकर सामने आते हैं, लिहाजा पढ़ाई-लिखाई के द्वारा ही हमें अपने अनुभवों को समृद्ध करना पड़ता है। सिर्फ यही नहीं, बाईदेउ का मुझसे जहां कहीं भी मिलना होता था वे मेरी पढ़ाई-लिखाई के बारे में मुझसे जरूर पूछती थीं। जब उन्हें बताता था कि बहुत दिन हो गए, कुछ भी नहीं लिखा तो वे प्यार से डांट भी देती थीं। और तो और कई बार तो बाईदेउ स्वयं फोन कर मुझसे मेरी पढ़ाई-लिखाई के बारे में पूछा करती थीं।

जब उन्हें पता चला कि मैं आवाहन थिएटर के साथ भी कुछ हद तक जुड़ा हुआ हूं, उसके बाद बाईदेउ ने असम की सांस्कृति जगत की मौजूदा स्थिति को लेकर मेरे साथ कई बार बातचीत भी की थी। उन बातचीत से ही मैं जान पाया कि बाईदेउ को

नाट्य जगत के बारे में कितना गहरा अध्ययन व जानकारी है। मुझे सौ प्रतिशत विश्वास है कि भवेंद्र नाथ सइकिया सर की तरह यदि मामोनी बाईदेउ भी गंभीरता के साथ नाटक लिखना शुरू करतीं तो असम और असमिया को कुछ मौलिक, समाज को आंदोलित करने वाले, उच्चकोटि के कई नाटक उपहारस्वरूप जरूर मिले होते।

असमिया फिल्म 'दीनबंधु' का निर्माण करने से पहले मैंने बाईदेउ से बात की थी। वैसे विषय-वस्तु को लेकर फिल्म बनाने के लिए मेरे आगे बढ़ने पर बाईदेउ बेहद डर रही थीं। उस समय की असमिया फिल्मों के चलन अथवा गतिविधियों को लेकर वे कुछ हताश व चिंतित भी थीं। असमिया फिल्म और नाटकों के बारे में बाईदेउ कहा करती थीं- नाटक और फिल्म हमारी संस्कृति के दो बेहद महत्त्वपूर्ण हिस्से हैं। वे कहती थीं कि इन दोनों क्षेत्रों में कुछ संस्कृतिवान लोगों का प्रवेश बहुत जरूरी हो गया है। कथा प्रसंग में उन्होंने एक बार विभिन्न विदेशी फिल्मों की कहानी, निर्माण कौशल आदि के बारे में भी मुझसे बातचीत की थी। हकीकत तो यह है कि लिखाई-पढ़ाई के बारे में मैंने बाईदेउ से जितना कुछ सीखा है, नाटक, सिनेमा आदि के बारे में भी मैंने उनसे उतना ही सीखा है।

बाईदेउ के व्यक्तित्व के अन्य एक पहलु को मैंने महसूस किया, वह था उनका मानवीय हृदय। अपने आप में वे संपूर्ण थीं। पूरी तरह कला से जुड़ी होने के बावजूद उन्हें फैशन की दुनिया से लेकर राजनीति के गलियारे की हर एक छोटी-बड़ी बातों की जानकारी रहा करती थी। संभवत: इसी कारण वे पहली बार अल्फा-केंद्र सरकार के बीच शांति वार्ता आयोजित करा पाई थीं।

मामोनी बाईदेउ सिर्फ संपूर्ण व्यक्ति ही नहीं वे हकीकत में एक जनमुखी व्यक्तित्व भी थीं। समाज के सभी तबके, सभी लोगों के लिए वे हमेशा ही उनकी आत्मीय रहीं। लोग आसानी से उनसे मिल न सके, वे इतनी बड़ी भी नहीं थीं। चाहे करीबी हो अथवा दूर का, सभी के लिए अपने हृदय में ममता का समंदर लिए वह सभी के लिए सहज उपलब्ध थीं और अपने इसी गुण की वजह से मेरी मामोनी बाईदेउ लोगों के दिलों में हमेशा-हमेशा के लिए जिंदा रहेंगी।

प्रसंग : डायन हत्या

पिछले कई सालों से असम में जो घटनाएं चर्चा का विषय रही हैं, उनमें डायन के नाम पर की जाने वाली हत्याओं के मामले भी शामिल हैं। पिछले कई सालों में राज्य के विभिन्न इलाकों में विशेषकर बोड़ो बहुल क्षेत्रों में डायन के नाम पर जिस तरह लोगों की नृशंस हत्याएं की गईं, उनका स्मरण होते ही पूरे बदन में एक सिरहन सी दौड़ जाती है। निरीह वृद्ध को डायन बताकर जिंदा जला देने अथवा 90 वर्ष के वयोवृद्ध को दौड़ा-दौड़ा कर लाठियों से पीट-पीटकर मार डालने जैसी घटनाएं अखबारों की सुर्खियां बन चुकी हैं। इस कड़ी में आरोपी को पेड़ से बांधकर उस पर तरह-तरह के अत्याचार करना भी शामिल है। एक सभ्य समाज में किसी को डायन बताकर उसी के परिवार के सदस्यों के सामने उसे तड़पा-तड़पाकर मार डालने जैसी हरकत नृशंसता से अधिक और क्या हो सकती है। वैसे तो हर प्रकार की हत्या ही नृशंस होती है और हर क्रिया के विपरीत एक प्रतिक्रिया भी होती है। डायन हत्या को लेकर समाज में हो रही तीखी प्रतिक्रियाओं के बावजूद ऐसी हत्याओं का सिलसिला अभी भी पूरी तरह से थमा नहीं है। वैसे तो यह तय नहीं है कि आरोपी सचमुच ही डायन है, फिर भी यदि मान लिया जाए कि आरोपी डायन है तो भी क्या आम जनता को यह हक है कि वह कानून को अपने हाथों में ले ले। इस प्रकार की लोमहर्षक घटनाएं निश्चय ही एक सभ्य समाज का परिचायक नहीं हो सकतीं।

डायन के नाम पर की गई हत्याओं का यदि विश्लेषण किया जाए तो पता चलता है कि इस प्रकार की अधिकांश घटनाएं राज्य के जनजाति बहुल इलाकों में हुई हैं।

आमतौर पर ऐसे इलाकों के लोगों में साक्षरता दर कम पाई जाती है। इसीलिए इन इलाकों के छोटे-छोटे समाज कुसंस्कारों की जंजीरों में जकड़े होते हैं। ऐसे समाज के लोग दलीलों को नहीं, अनुभूति को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं, लिहाजा इनके लिए दलील नहीं उनके कुसंस्कारों का महत्त्व अधिक है। राज्य के जिन इलाकों में आज भी आधुनिक चिकित्सा सेवा नहीं पहुंच पाई है, उन इलाकों के लोगों का नीम-हकीम तथा झाड़फूंक करने वाले ओझों पर विश्वास होना स्वाभाविक ही जान पड़ता है। ऐसे पिछड़े इलाकों में कविराज, साधक, फकीर-ओझा आदि अपना प्रभाव विस्तार करेंगे ही और ऐसे फकीर-ओझा गांव वालों को जो भी कह देते हैं, वह उनके सिर माथे पर होता है। एक वाक्य में कहा जाए तो ऐसे नीम-फकीरों की बातें ही कानून और अंतिम निर्णय होता है। गांव के लोग विरोध की भाषा नहीं समझते। लिहाजा मौकापरस्त कविराज अथवा ठगबाज प्रवृत्ति के लोग मौके का फायदा उठाते हैं। अपना हित साधने के लिए अपने प्रतिद्वंद्वियों को भड़काते हैं। ऐसे लोग अपना कोई भी हित साधने के लिए भोलेभाले गांव वालों को इस तरह से भड़काते हैं कि वह लोग भ्रमित हो कविराज अथवा स्वयंभू बाबाओं के बहकावे में आकर हत्या जैसा जघन्य अपराध तक कर बैठते हैं।

निजी हित साधने के लिए जो ऐसे जघन्य हत्याकांड में शामिल होते हैं, वह लोग लेकिन बाद में सभी की आंखों में धूल झोंक समाज में एक गणमान्य व्यक्ति के तौर पर सक्रिय रहते हैं। हलांकि पिछले दिनों ऐसे अपराधों के कई आरोपियों को जेल की हवा भी खानी पड़ी है।

डायन करार देकर किसी की हत्या किए जाने की असली वजह कुछ और ही होती है। देखा जाए तो डायन होने का आरोप लगाना एक बहाना मात्र होता है। ऐसी हत्याओं के पीछे का मकसद मुख्य रूप से आरोपी व्यक्ति की जमीन अथवा संपत्ति पर कब्जा जमाना होता है। किसी को डायन करार देकर उसकी हत्या करवाना अपनी निजी रंजिश का बदला चुकाने का एक अमोघ हथियार बन चुका है। अपने निजी स्वार्थ के लिए जब कोई किसी की हत्या करता है तो सीधे-सीधे उस पर ही सारे दोष मढ़ दिए जाते हैं, मगर जब यही हत्या सार्वजनिक तौर पर फरमान सुनाने के बाद ग्राम के लोगों द्वारा कराई जाती है, तब इस अपराध का दोष अन्य के पाले में डालने में कोई समस्या नहीं होती। राज्य के जिन हिस्सों में डायन के नाम पर ऐसी हत्याएं हुई हैं, उन घटनाओं का सिलसिलेवार ढंग से विश्लेषण करने पर यह बात साफ हो जाती है। ऐसी घटनाओं के शिकार अधिकांश परिवार निर्बल-निर्धन होने के कारण

वे समाज के दबंग लोगों के सामने अपना सर नहीं उठा सकते। कमजोर पेड़ को देख, जैसे हर एक ताकतवर व्यक्ति उसे काट डालना चाहता है, ठीक इसी तरह ऐसे गरीब-कमजोर परिवारों का लोग अपना हित साधने के काम में उपयोग करते हैं। आहिस्ता-आहिस्ता उन्हें समाज से अलग-थलग कर दिया जाता है और अंत में उनकी नृशंसता के साथ हत्या तक कर दी जाती है।

किसी भी सभ्य समाज में ऐसी हत्याएं स्वीकार्य नहीं हो सकतीं। मानवता को धूल-धूसरित करने का यह एक ज्वलंत उदाहरण हो सकता है। ऐसी ही एक घटना का स्मरण आता है, जब राज्य के सोनारी नामक स्थान पर एक महिला पर रात भर शारीरिक अत्याचार किए जाने के बाद उसे जिंदा जला दिया गया था। राष्ट्रीय मीडिया में राज्य से जुड़ी ऐसी मार्मिक खबरें बहुत कम देखने-पढ़ने को मिलती हैं। आज कोई हिंसक बाघ जनबस्ती में घुसकर किसी पर हमला कर उसे मार डालता है, चारों ओर प्रतिक्रियाएं होती हैं। ऐसे बाघ को मार दिए जाने तक की मांगें उठती हैं। मगर डायन करार देकर निरीह लोगों को मार डालने के सिलसिले पर विराम लगाने के लिए राज्यवासियों के कंठ अवरुद्ध हैं। ऐसे जघन्य हत्याकांड के विरोध में राज्य के किसी भी कोने से कोई आवाज सुनाई नहीं देती। इस मामले में तो विभिन्न समाजसेवी संगठन तक सवालों के घेरे में नजर आते हैं। चूंकि आज तक यह साबित नहीं हो पाया है कि डायन होती भी है या नहीं, लिहाजा डायन के नाम पर निरीह व्यक्ति को मार डालने का अधिकार किसी को भी नहीं है।

क्षय होती युवा मानसिकता और थोड़ी चिंता-चर्चा

क्षय होती युवा मानसिकता और राह भटकती नई पीढ़ी, इन दोनों मुद्दों पर हमारे समाज में सघन चर्चा होती रहती है। ये मुद्दे समाज के वरिष्ठ नागरिकों में आलोचना का विषय रहे हैं। समाचारपत्रों में इन मसलों को जगह दी जा रही है और विभिन्न टीवी चैनलों पर भी इन मुद्दों को लेकर बहस-विश्लेषण होते देखा जाता है। हाल की कुछ घटनाओं को लेकर इन सभी चर्चा, आलोचना, बहस-विश्लेषणों में बुद्धिजीवियों द्वारा चिंता प्रकट की गई है।

सचमुच आज की सामाजिक स्थिति और इन हालात में युवा पीढ़ी अथवा नई पीढ़ी की भूमिका एक चिंता का विषय बनी हुई है। नई पीढ़ी का एक बड़ा तबका आज अवांछित कार्यों में लिप्त है, इसके लिए पूरी नई पीढ़ी को आलोचना सहनी पड़ रही है।

मेरा व्यक्तिगत तौर से सोचना है कि ऐसे हालात का एक दूसरा चिंतनीय पहलू भी है। वह है आम नैतिकता से ऊपर जाकर सही नजरिए से पूरे घटना प्रवाह को देखना। यदि हम सवाल करें कि युवा पीढ़ी गलत रास्ते पर क्यों जा रही है अथवा नई पीढ़ी वांछित कार्य छोड़ अवांछित काम क्यों कर रही है तो बहुत-सी बातें अपने आप स्पष्ट हो जाएंगी।

युवा पीढ़ी अथवा नई पीढ़ी का मतलब ही है पहला यौवन और पहले यौवन का अर्थ होता है ऊर्जा और शक्ति का कभी न खत्म होने वाला भंडार। जीवन के

इस दौर में इंसान शक्ति और साहस की सर्वोच्च सीमा को स्पर्श करता है। इस शक्ति और साहस को किसी काम में लगाने के लिए युवा पीढ़ी लालायित रहती है। ऐसी अवस्था में यदि समाज अच्छे काम करने का माहौल तथा उदहारण प्रस्तुत कर पाए तो नई पीढ़ी द्वारा भी अच्छे काम ही संपादित होंगे, अन्यथा युवा पीढ़ी अथवा नई पीढ़ी द्वारा अवांछित काम ही संपादित होंगे।

अब हम मूल प्रश्न पर आते हैं। नई पीढ़ी की ऊर्जा और शक्ति का उचित उपयोग हो सके, क्या हम समाज में ऐसा माहौल बना पाएं हैं। यदि हम गुवाहाटी महानगर को ही उदाहरणस्वरूप लें तो हम क्या देख पाते हैं। गुवाहाटी युवा पीढ़ी अथवा नई पीढ़ी की उच्छृंखलता, नैतिक पतन और खुलेपन का मुख्य केंद्र बनी नजर आती है। इस ऐतिहासिक नगरी के माहौल को कुछ युवाओं ने बिल्कुल गंदा कर रखा है। गुवाहाटी के जू रोड स्थित श्रद्धांजलि कानन पार्क में संभ्रांत घरों की महाविद्यालय की दो छात्राओं द्वारा दिनदहाड़े कोल्ड ड्रिंक्स में शराब मिलाकर पीते हुए लोगों द्वारा पकड़े जाने की घटना साबित करती है कि गुवाहाटी के कुछ युवाओं का किस हद तक नैतिक पतन हो चुका है। युवा पीढ़ी की इन बदमाशियों की वजह से महानगरी का माहौल पूरी तरह से असुरक्षित हो गया है। मगर यहां सवाल यह भी उठता है कि करीब बीस लाख की आबादी वाले, बिना किसी परियोजना के फैलने-बढ़ने वाली, गंदगी और भीड़भाड़ वाली महानगरी में युवाओं की मानसिकता स्वस्थ और निर्मल हो, क्या हम ऐसा माहौल पैदा कर पाए हैं? गुवाहाटी के गली-मोहल्लों में सरकारी अनुमति प्राप्त शराब की दुकानें और बीयर बार की भरमार है, जबकि सार्वजनिक उद्यान की तलाश में निकले लोगों को ऐसे उद्यान ढूंढ़ने से भी नहीं मिलते। एक अच्छे उद्यान में कुछ समय गुजारने की इच्छा रखने वाले गुवाहाटीवासी को महानगर के इस छोर से उस छोर तक का चक्कर लगाना पड़ता है। जिस महानगर में थोड़ा सा स्वस्थ माहौल, खुली हवा और चार कदम चलने जितनी भी सुविधाएं न हो, उस महानगर अथवा वहां की युवा पीढ़ी की मानसिकता स्वस्थ कैसे हो सकती है।

इसी तरह खेल की सुविधाओं और आधारभूत संरचनाओं पर नजर डालने पर भी निराशजनक तस्वीर ही उभरकर सामने आती है। इंसान के शरीर के साथ-साथ मन को स्वस्थ व प्रफुल्लित रखने के लिए भी खेलकूद बेहद जरूरी है। युवा पीढ़ी जैसी बेहद संवेदनशील उम्र के युवाओं के लिए तो खेलकूद और भी जरूरी है। मगर गुवाहाटी जैसी भीड़भाड़ वाली महानगरी में क्या पर्याप्त खेल केंद्र हैं, जहां नाममात्र का शुल्क देकर समाज के युवक-युवतियां खेल मैदान में स्वयं को व्यस्त रख सकें।

इसका जवाब सभी के पास है। जबकि प्रकृति ने गुवाहाटी पर अपना दिल खोलकर प्राकृतिक संपदाएं लुटाई हैं। गुवाहाटी महानगर तथा इसके आसपास स्थित प्राकृतिक जलाशयों को बजाए ध्वस्त होने देने के यदि उन जलाशयों का विकास किया जाता तो जलक्रीड़ा की संभावनाएं पैदा हो सकती थीं। इसी तरह यदि पहाड़ियों की कटाई पर समय रहते प्रतिबंध लगा दिया जाए तो इन पहाड़ियों पर रोमांचक खेलों की बुनियादी सुविधाओं को हासिल किया जा सकता था। इसी तरह भरलु, वशिष्ठ अथवा ब्रह्मपुत्र नद में भी जलक्रीड़ा की संभावनाओं को तलाशा जा सकता था, मगर ऐसा कुछ भी न तो सोचा गया और न ही किया गया।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि गुवाहाटी जैसे महानगर में पर्याप्त संख्या में सार्वजनिक पुस्तकालय तक स्थापित नहीं हो सके। जिस महानगर की गलियों में छोटे-बड़े पुस्तकालय स्थापित कर युवा पीढ़ी के मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए उचित कोशिशें की जानी थी, उस महानगर में एक-आध पुस्तकालय ही खड़े नजर आते हैं। इतना होने के बाद हम यह उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि हमारी युवा पीढ़ी का नैतिक क्षरण न हो। इस लेख में भले ही हमने गुवाहाटी को एक उदाहरण के तौर पर पेश किया है, मगर हम यदि ठीक से देखें तो पूरे राज्य की कुछ ऐसी ही छवि उभरकर सामने आती है।

एक सम्मोहिनी शक्ति के धनी थे डॉ. भूपेन हजारिका

डॉ. भूपेन हजारिका में एक सम्मोहिनी शक्ति थी। इसीलिए वे आज मरकर भी अमर हैं। संभवत: महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव और श्रीश्री माधव देव के निधन के बाद वे राज्य में सबसे अधिक चर्चित व्यक्ति के रूप में उभरकर सामने आए हैं। हर एक व्यक्ति में कोई न कोई गुण होता है। इन्हीं गुणों की बदौलत व्यक्ति दूसरे के दिल में अपनी छाप छोड़ता है। कुछ लोगों को दूसरे व्यक्ति के गुण खराब भी लगते हैं। इस दुनिया में ऐसे बहुत कम लोग ही होंगे, जिनके गुणों को हर कोई पसंद करता हो। सभी के दिल में छाप छोड़ना, लोगों को आकर्षित करना, जनता में चर्चित होना और शोध का विषय बन जाना जैसे गुण जब किसी व्यक्ति में होते हैं तो निश्चय ही वह व्यक्ति सभी के लिए स्वीकार्य होता है। इसे ही कहते हैं सम्मोहिनी शक्ति। जिनकी बातों में जादू है, जिसके सृजन सृष्टि में जादू है, जिसके हर एक कदम पर कमल खिलते हों, जिसकी हर एक बात दूसरा व्यक्ति बिना किसी विवाद के मान लेता है, उसमें क्या विशेष गुण हो सकते हैं, यह सवाल न ही पूछा जाए तो बेहतर है। काम तो सभी व्यक्ति करते हैं, मगर स्वीकृति उनके काम को ही मिलती है, जो खास तरीके से काम करते हैं। दरअसल महान व्यक्ति जो काम करते हैं, हम भी वही काम करते हैं। फर्क सिर्फ इतना-सा ही है कि महापुरुष सभी काम एक खास अंदाज में पूरा करते हैं।

इंसान किसी का जन्म होने पर हंसता है और किसी के मरने पर रोता है। यह मानव जीवन चक्र की एक सहज प्रक्रिया है। एक बच्चा जब जन्म लेता है तो वह रोते हुए जन्मता है, मगर उसके आसपास के लोग खुशी से हंसते हैं। मगर हर इंसान को अपने जन्मकाल में कुछ ऐसे काम करने चाहिए कि उसकी मौत पर पूरी दुनिया रोए। डॉ. भूपेन हजारिका के मामले में भी एक ऐसी ही छवि उभरकर सामने आती है। उनके जिंदा रहते किसी ने भी नहीं सोचा था कि मरने के बाद भूपेन दा को इतना सम्मान मिलेगा। और तो और, भूपेन दा ने स्वयं एक पत्रकार से पूछा था- मेरे मरने पर क्या कोई रोएगा। मगर लोगों के दिलों पर राज करने वाला यह यायावर कलाकार यह जान ही नहीं पाया कि उसे लोग कितना प्यार करते हैं। जज फील्ड में उनके अंतिम दर्शन करने के लिए अथवा उनकी पार्थिव देह पर श्रद्धा-सुमन अर्पित करने के लिए लाखों लोगों की भीड़ का दृश्य फिर शायद ही कभी देखने को मिले। नवजात शिशु को अपने कंधे से चिपकाए पांच-छह घंटे तक सड़क के किनारे खड़े होकर अपने प्रिय कलाकार की अंतिम यात्रा का इंजतार करती महिला के मन की व्यथा को समझने में भी हो सकता है किसी को सालों लग जाए।

सम्मोहिनी शक्ति संपन्न व्यक्ति का जन्म सैकड़ों साल बीत जाने के बाद होता है, इस बात से तो हम सभी वाकिफ हैं। कोई भी व्यक्ति जन्मजात सम्मोहिनी शक्ति संपन्न नहीं होता। वह अपने कर्मों के द्वारा ही इस शक्ति को अर्जित करता है। कुछ गुणों को हासिल करने के लिए लंबी साधना की जरूरत होती है। बिना साधना किए कोई भी व्यक्ति अपने अंदर छिपी अलौकिक शक्ति को जागृत नहीं कर सकता। अंदर छिपी अलौकिक शक्ति को जागृत करने के लिए साधना तो करनी ही पड़ती है। यदि हम डॉ. भूपेन हजारिका की जीवन यात्रा पर नजर डालें तो हमें उनके जीवन में भी यही बात नजर आती है। अपने अंदर के सम्मोहिनी गुण को प्रस्फुटित करने के लिए उनको अपने जीवनकाल में न जाने कितनी ही बार आलोचनाओं के वाणों से लहूलुहान होना पड़ा था। और तो और, जिनके साथ उनके गहरे व अटूट संबंध थे वह लोग भी कभी-कभी डॉ. हजारिका की सृजनशीलता के आगे स्वयं को असहाय पाते थे। ऐसे बहुत से लोगों ने तो उनकी आलोचना तक करनी बंद कर दी थी।

किसी इंसान में सम्मोहिनी गुण तभी रहते हैं, जब वह इंसान व्यक्ति केंद्रित होने के बजाए समाजप्रिय होता है और खाते-पीते, उठते-बैठते सिर्फ आमलोगों की चिंता करता है। डॉ. हजारिका की ऐसी ही चिंता की झलक उनके गीत-गानों में देखने को मिलती थी। उनके गीतों में श्रोताओं को जिंदगी का अर्थ, जीवन संग्राम में विजयी

होने का मूलमंत्र मिलता था और इसका मूल्य तो सोने से भी नहीं चुकाया जा सकता। इसीलिए उनकी रचनाओं में भी एक सम्मोहिनी शक्ति छिपी हुई है। इस महान कलाकार को हम भूलना चाहें तो भी नहीं भूल सकते। कोई विवेक संपन्न व्यक्ति भूपेन दा को भूल भी कैसे सकता है, क्योंकि वे अपने आप में अनोखे व अकेले व्यक्ति थे। उनमें जीवन के साथ तरन्नुम स्थापित करने की एक अलौकिक शक्ति थी। जिंदगी के टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर भी वे जीवन संगीत से साक्षात्कार कर लिया करते थे। ऐसे व्यक्ति की हर बात, हर काम में एक अलग ही खासियत नजर आती है। आमतौर पर दस व्यक्तियों की नजरें जिस वस्तु को देख-समझ नहीं सकतीं, यह लोग बड़ी आसानी से उस वस्तु तक पहुंच जाते हैं। इस मामले में डॉ. भूपेन हजारिका भी सबसे आगे थे। समाज को एक नई दिशा दिखाने के लिए उन्होंने क्या नहीं किया। आज से तीन दशक पूर्व अपने गीतों के माध्यम से उन्होंने जो बातें कही थीं, वे बातें आज अक्षरश: मिल रही हैं। विधानसभा के पटल पर उनके द्वारा उठाए गए मुद्दों को जागरूक लोग आज महसूस कर पा रहे हैं। 'जितना बांटोगे, उतना ही महान बनोगे' इस मूलमंत्र को साथ लेकर ही भूपेन दा अपने कर्म-समर में उतरे थे और उनकी सम्मोहिनी शक्ति का भी यही राज था।

एक मूर्तिकार की व्यथा

नरेश विश्वास, एक मूर्तिकार (भास्कर्य कलाकार) होने के बावजूद सभी लोगों में वह एक मिस्त्री के रूप में ही परिचित है। मूर्तिकला की साधना में अपनी जिंदगी खपा देने वाले इस कलाकार को लेकिन समाज की ओर से एक मूर्तिकार के तौर पर कभी भी स्वीकृति हासिल नहीं हुई। इस बात को लेकर उसको कोई अफसोस भी नहीं है। वह चुपचाप बस अपने काम में लगा है। उसके हाथों का स्पर्श पाकर अब तक न जाने कितनी ही देवी-देवताओं की बेजान मूर्तियां मानो बोलने लगी हैं। किसी पत्थर पर यदि वह अपना हाथ रख दे तो वह पत्थर भी बोलने लगता है। एक पत्थर के टुकड़े को जीवंत रूप देने वाला यह कलाकार दूसरों से सिर्फ प्रशंसा पाने के लिए ही पश्चिम बंगाल से असम नहीं आया है। जीविका निर्वाह करने के लिए अपने पिता के साथ असम आने के बाद मोरीगांव में रहने वाले इस कलाकार की अंगुलियों का स्पर्श पाकर असम के कई ऐतिहासिक मंदिर मानो मुंह से बोलते हैं।

आज वह बेहद गरीबी में अपने दिन गुजार रहा है। शारीरिक रूप से कमजोर अपनी लड़की के इलाज के लिए पूरे पैसे भी नहीं है उसके पास। बाजार की महंगाई ने अन्य गरीबों की तरह उसकी भी कमर को तोड़कर रख दिया है। दैनिक मजदूरी के रूप में हासिल तीन सौ रुपए में परिवार का खर्च ही पूरा नहीं होता। एक बड़े मैदान के किनारे निवास करने वाले इस कलाकार के पास खेती करने लायक जमीन का एक छोटा-सा टुकड़ा भी नहीं है। खेतों में जब सुनहरी फसलें मुस्कुरा रही होती हैं, उस

वक्त इस गरीब कलाकार के अन्न भंडार में मुट्ठी भर दाने भी नहीं होते हैं। अभी तक सरकार द्वारा प्रदत्त कलाकार पेंशन से वंचित इस कलाकार का इस तरह गरीबी में अपने दिन गुजारना सचमुच बड़ी ही शर्म की बात है। वह भी ऐसे शासनकाल में, जिसकी सरकार कलाकारों के लिए बहुत कुछ किए जाने का दावा करती फिरती है। इस कलाकार को तो इसकी भी ठीक से जानकारी नहीं है कि उस जैसे कलाकार के लिए सरकार ने किस प्रकार की योजनाएं चला रखी हैं।

पश्चिम बंगाल के चौबीस परगना जिले के बनगांव में वर्ष 1953 में जन्मे इस कलाकार ने अपनी स्कूली शिक्षा अपने ही गांव के एक विद्यालय में हासिल की। 1969 में मैट्रिक की परीक्षा पहली श्रेणी में उत्तीर्ण की। बाद में आर्थिक स्थिति खराब होने की वजह से आगे की पढ़ाई पूरी नहीं कर पाया यह मूर्तिकार। 1971 में नरेश ने कलकत्ता के शांति निकेतन में तीन साल तक शिल्पकला की शिक्षा ग्रहण की। शिक्षा ग्रहण के दौरान शिल्प कला में उसकी निपुणता देख कई व्यक्तियों ने उसको अमरीका भेजने की भी कोशिशें की थी, उन्होंने लालच भी दिए थे। मगर यह कलाकार अमरीका जाने को तैयार नहीं हुआ। क्योंकि अपने देश में शिक्षा हासिल कर दूसरे देश में जाकर लोगों की सेवा करना इस स्वाभिमानी कलाकार को कतई मंजूर नहीं था। यदि उस समय यह कलाकार अमरीका चला गया होता तो हो सकता है अब तक बहुत कुछ हासिल कर चुका होता। मुमकिन है कि दो वक्त की रोटी की जुगाड़ में उसे आज जैसी लड़ाई नहीं लड़नी पड़ती। इस पर भी इस फक्कड़ कलाकार को कोई अफसोस नहीं है। कामरूप जिले के गड़लगांव के भट्टापाड़ा में रानी चापरी श्रीश्री मनसा मंदिर के अलावा गौहाटी विश्वविद्यालय का मूल तोरणद्वार, मयांग के हरि मंदिर, विष्णु मंदिर, उवाबाड़ी-मिकीभेटा के राम मंदिर, मोरीगांव के गीताश्रम तोरण, श्रीश्री कृष्णनंद ब्रह्मचारी, गणेशगुड़ी के गणेश मंदिर, धरमतोल के विष्णु मंदिर आदि, वर्ष 1975 से मोरीगांव में निवास कर रहे, इस कलाकार की बेजोड़ कलाकृतियों के नमूने हैं।

नरेश मिस्त्री का संबोधन उसके दिल में किसी तीर की तरह चुभता है। लोगों की नजर में एक साधारण-सा दिखने वाला यही मिस्त्री अमरीका जाने का मौका मिलने पर भी स्वदेश का मोह त्याग परदेस नहीं गया था, यह बात संभवत: कोई भी नहीं जानता। नरेश भी अन्य लोगों के सामने इस बात का जिक्र करना पसंद नहीं करता। एक सच्चे कलाकार का परिचय यहीं जाकर मिलता है। सच्चा कलाकार कभी भी किसी की स्वीकृति नहीं चाहता। सुबह बिस्तर से उठने के बाद से रात को सोने

के लिए बिस्तर पर जाने के पहले तक कलाकार सिर्फ अपनी कला-सृजन में ही रमा रहता है। उसका मकसद किसी की स्वीकृति हासिल करना नहीं, बल्कि बेजान पत्थरों में जान डालना होता है। ऐसे कलाकारों को हम क्यों सम्मान नहीं दे पाते। इनको सामाजिक तौर पर सम्मान नहीं दे पाना भी एक तरह से इनका अपमान करने जैसा ही है। आधुनिकता के साथ हम जितने मशीनी हो रहे हैं, हमारे कलाकार उतने ही मूल्यहीन होते जा रहे हैं। अपने बच्चे को दुत्कार दूसरे के बच्चे को गले लगाने की तरह हम बाहर के कलाकारों का गुणगान करते नहीं थकते, मगर अपने घर के कलाकारों को मिस्त्री कहकर बुलाते हैं। क्या यह हमारे अपने कलाकारों का अपमान करने जैसा कृत्य नहीं है।

कौन होगा भला, जिसने गणेशगुड़ी में स्थित गणेश मंदिर की दीवारों पर बनी मूर्तियों को नहीं देखा होगा। इस मंदिर के सामने से प्रतिदिन हजारों लोग गुजरते हैं। इतने ही लोग पूजा-अर्चना के लिए मंदिर में इकट्ठा भी होते हैं। सभी इन मूर्तियों को देखते-पूजते हैं, मगर यह जानने की कोशिश कोई नहीं करता कि आखिर कौन है वह कलाकार, अंगुलियों का जादूगर, जिसके स्पर्श से ये मूर्तियां सारी आपस में बातचीत करती प्रतीत होती हैं। आमलोग ही नहीं, इस मंदिर के सामने से हमारे मंत्री-विधायकों के भी काफिले गुजरते हैं, मगर उनको भी इन मूर्तियों को बनाने वाले कलाकार के बारे में जानने की तनिक भी फूर्सत नहीं है। इसी तरह से अब तक न जाने कितने कलाकार-मूर्तिकार गुमनामियों के अंधेरे में रहकर इस दुनिया से कूच कर गए। एक दिन नरेश भी इस दुनिया से चला जाएगा, मगर उसकी सृष्टि हमेशा-हमेशा के लिए हमारे बीच जिंदा रहेगी। मगर स्वीकृति ? नरेश जैसे कलाकार को वह शायद कभी भी हासिल नहीं होगी। न जिंदा रहते हुए-न मरने के बाद।

एक कलाकार सीमेंट, सरिया, बालू से मूर्ति बनाता है, ब्रश से उन मूर्तियों में जान डालता है। नरेश ने हिंदी फिल्मों के सुपर स्टार राजेश खन्ना का भी चित्र बनाया है। इतने पर भी यह कलाकार आज भी कलाकार (शिल्पी) पेंशन से वंचित है। न तो इसे इंदिरा आवास योजना के तहत घर मिला और न ही निर्मल भारत योजना का शौचालय। मूर्तिकार होने के बावजूद हमेशा मिस्त्री कह कर बुलाए जाने से दुखी नरेश ने कहा-मुझे मिस्त्री कहकर बुलाने पर दिल पर भारी ठेस लगती है। दूसरों के घर बनाए, मंदिरों के मुख्य द्वार बनाए। मगर अपने लिए एक छोटा-सा घर भी नहीं बना पाया मैं। यह कहते-कहते इस कलाकार का गला रूंध गया था। मगर मैं जानता हूं 'मिस्त्री' संबोधन से हासिल इसी दर्द की बदौलत वह मंदिर-मूर्तियों का सृजन करता रहेगा।

बदलता पाठशाला : थोड़ी चिंता-थोड़ा चिंतन

आज का पाठशाला निचले असम का तेजी से विकसित होता एक नगर है। इसका बदलाव, प्रगति और दुर्गति सभी लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है। हाल ही में पाठशाला ने अपने स्वरूप में अभूतपूर्व बदलाव लाए हैं। नगर की जनसंख्या में भारी बढ़ोतरी हुई है, साथ-साथ बढ़ी है छोटे-बड़े वाहनों की संख्या भी। दुकानों के अलावा अन्य व्यापारिक प्रतिष्ठान-संस्थानों की संख्या में भी बड़ी तेजी से बढ़ोतरी देखी जा रही है। आधुनिक शहरी जीवन के सभी प्रकार के मनोरंजन के साधन आज के दिन पाठशाला में उपलब्ध हैं। इसी प्रकार सरकारी-गैर सरकारी कार्यालयों की संख्या भी पहले की तुलना में काफी बढ़ी है। गैर-सरकारी (निजी) स्कूलों की संख्या बढ़ने के फलस्वरूप इस छोटे से शहर के शैक्षणिक माहौल में भी पहले की अपेक्षा बदलाव आया है।

पाठशाला नगर के बड़ी तेजी से होते नगरीकरण और व्यवसायीकरण की वजह से उत्पन्न समस्याएं भी अब लोगों की नजरों के सामने आने लगी हैं। बढ़ती जनसंख्या और छोटे-बड़े वाहनों की चिल्लम पौ ने पाठशाला की शांति व सहजता को काफी हद तक प्रभावित किया है। शब्द प्रदूषण-वायु प्रदूषण का स्तर तो बढ़ा ही है, साथ ही बढ़ी है जगह-जगह लगे कचरे के ढेरों की संख्या भी। शहर के मुख्य मार्ग से होकर चलना-फिरना अब पहले की तरह आसान व सुविधाजनक नहीं रह गया है। अब तो पाठशाला

में कृत्रिम बाढ़ जैसी महानगरीय समस्या भी दिखाई देने लगी है। नगर के अंदर और आस-पास की कृषियोग्य भूमि खत्म होती जा रही है और इन सभी स्थानों पर अब आबादियां बसने लगी हैं। पाठशाला नगर के चारों ओर फैले गांवों के माहौल पर भी पाठशाला के तेजी से होते विकास और व्यवसायीकरण का प्रभाव दिखने लगा है। नगर और गांव दोनों ही स्थानों की हरियाली कम होने लगी है। इस नगर के विस्तार और व्यवसायीकरण ने यहां के लोगों के दिलों पर भी अपना प्रभाव छोड़ा है। लगता है कुछ हद तक यहां के सामाजिक परिवेश ने अपना संतुलन खोया है। सांस्कृतिक गतिविधियां या तो कम हुई हैं या फिर अपने स्वभाव को बदला है। पहले के गैर-पेशेवर प्रयासों की जगह अब पेशेवर अथवा व्यावसायिक मानसिकता ही अधिक नजर आती है।

मगर एक समय पाठशाला का ऐसा रूप अथवा स्वभाव नहीं था। तब के पाठशाला कहने पर एक छोटे-से नगर की याद आती है। दो मुख्य पक्की सड़कों के अलावा कंकड़ से बने कई छोटे-छोटे अंदरूनी रास्ते ही हुआ करते थे। अंदर के सभी रास्ते एक-एक हरे मैदान में जाकर खत्म होते थे। एक छोटा-सा रेलवे स्टेशन, एक राज्य परिवहन निगम का बस अड्डा और अस्थायी गैर-सरकारी बस अड्डा ही इस छोटे से नगर के प्राण केंद्र थे। कम जनसंख्या युक्त एक साफ सुथरा अर्ध नगरीय-अर्ध ग्रामीण स्वरूप का था पाठशाला। चारों ओर समृद्धशाली गांवों से घिरे पाठशाला में एक महाविद्यालय, एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, दो हाईस्कूल, कई माध्यमिक, प्राथमिक विद्यालय-सभी प्रादेशीकृत थे। तब निजी विद्यालय की कोई अवधारणा नहीं थी। हर एक शिक्षण संस्थान का परीक्षा परिणाम भी अन्य से बेहतर होता था। अटूट सामाजिक बंधन, अटूट प्यार-प्रेम। साल के लगभग सभी दिन ही शिक्षा, कला, सांस्कृतिक गतिविधियों की चर्चा हुआ करती थी। इन गतिविधियों की वजह से ही पाठशाला एक शैक्षणिक-सांस्कृतिक नगर के रूप में उभरा था। पाठशाला को इस स्वरूप में ढालने में जिन संस्थान-संगठनों ने अग्रणी भूमिका निभाई थी, उनमें पाठशाला साहित्य सभा का स्थान सबसे ऊपर है।

आज से लगभग 50 साल पहले पाठशाला जैसे एक छोटे से नगर में, तब की कमजोर बुनियादी सुविधाओं के बीच असम साहित्य सभा की शाखा के रूप में गठित पाठशाला साहित्य सभा ने पाठशाला को एक शैक्षणिक, सांस्कृतिक, सृजनशील नगर का स्वरूप प्रदान करने में जिस भूमिका का निर्वाह किया था, मेरी निजी राय है कि उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। बहुत पुरानी बातें तो नहीं बता सकता, मगर बचपन से ही हमने देखा है कि पाठशाला साहित्य सभा नगर के लगभग सभी

चिंतनशील व्यक्तियों के लिए एक मिलन केंद्र की भूमिका निभाती थी। शिक्षा, समाजसेवा, साहित्य सेवा आदि सभी क्षेत्रों से जुड़े लोगों को पाठशाला साहित्य सभा मिलने-बतियाने का स्थान, मौका और माहौल उपलब्ध कराती थी। हमें लगता है साहित्य सभा के तत्वावधान में उस दौरान आयोजित लेखक शिविर, अन्य साहित्यिक कार्यक्रम, पुस्तक प्रकाशन कार्यक्रम आदि पाठशाला के शैक्षणिक-सांस्कृतिक स्वभाव को बनाने और उन्हें कायम रख पाने में काफी मददगार साबित हुए थे। 1987 में असम साहित्य सभा का केंद्रीय अधिवेशन पाठशाला में आयोजित कर पाठशाला साहित्य सभा ने नगर में एक माहौल पैदा किया था। मेरे लिए यह एक आत्मसंतुष्टि का विषय है कि पाठशाला साहित्य सभा के साथ मैं भी कुछ हद तक जुड़ा हुआ हूं। पाठशाला साहित्य सभा के कई कार्यक्रमों में मैं कई विशिष्ट लोगों को अतिथि के रूप में ले गया था। इन सभी गणमान्य, विशिष्ट लोगों का सान्निध्य उपलब्ध कराने का जो मौका मुझे पाठशाला साहित्य सभा ने उपलब्ध कराया, उसके लिए मैं सभा का आभारी रहूंगा।

पहले ही कहा था- आज का पाठशाला अब वह पहले वाला पाठशाला नहीं रह गया है। असम के अन्य नगर-शहर और महानगरों की तुलना में इस छोटे से नगर का अधिक तेजी से विकास हुआ है। विकास की इस आंधी में गुम हो गया है पाठशाला का शैक्षणिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक परिचय। ऐसी स्थिति में युगांतर के इस क्षण में पाठशाला साहित्य सभा जैसे संगठनों पर अधिक जिम्मेदारी आन पड़ी है। धारा के विपरीत तैरकर पाठशाला साहित्य सभा जैसे संगठनों को अब पाठशाला के बौद्धिक परिचय को बनाकर रखना होगा अथवा नए सिरे से बनाना होगा। बौद्धिक परिचय की कब्र पर पाठशाला का एक वाणिज्यिक परिचय स्थापित हो, पाठशाला को प्यार करने वाले लोग ऐसा कभी नहीं चाहेंगे। वाणिज्यिक दिशा में पाठशाला आगे बढ़े ऐसा सभी चाहते हैं, मगर यह नगर एक निष्प्राण, मृत नगर में तब्दील हो जाए इस बात पर बहुत से लोगों की सहमति नहीं भी हो सकती है। पाठशाला के व्यवसायीकरण के साथ-साथ इसका शैक्षणिक, सांस्कृतिक अथवा समग्रता के साथ बौद्धिक परिचय भी कायम रहना होगा। इसके साथ-साथ गैर पेशेवर मनोवृत्ति के साथ काम करने की मानसिकता को भी बनाए रखना होगा। इसके लिए पाठशाला साहित्य सभा को अधिक से अधिक साहित्य संबंधी कार्यक्रम आयोजित किए जाने की ओर ध्यान देना होगा। इसके लिए परंपरागत साहित्य अध्ययन पर ध्यान देने के साथ-साथ यदि पाठशाला साहित्य सभा नाट्य साहित्य को लेकर भी अपनी सरगर्मियों में तेजी

लाए तो अच्छा होगा। हम यह भी उम्मीद करते हैं कि साहित्य सभा की ओर से साल में अधिक से अधिक पुस्तकों का प्रकाशन-विमोचन किया जाए। इसके लिए युवा पीढ़ी को सभा से जोड़ने की दिशा में विशेष प्रयास करने होंगे। इस प्रकार के कार्यक्रमों को हाथों में लेकर पाठशाला के सामाजिक परिवेश को बनाए रखने में पाठशाला साहित्य सभा काफी हद तक मददगार साबित हो सकती है।

हमें यह बात भी याद रखनी चाहिए कि चाहे वह व्यक्ति हो अथवा संस्थान या स्थान, हर एक का विकास उसके निजी चारित्रिक गुण की बदौलत होता है और यदि वह गुण ही गुम हो जाए तो उसका परिचय भी जिंदा नहीं रह पाता है। पाठशाला के आत्मपरिचय को बनाए रखने के लिए पाठशाला साहित्य सभा अग्रणी भूमिका ले, हम सभी की यह ख्वाहिश है। हमारा अनुभव कहता है- अपने पूर्व अनुभव, सबल नेतृत्व और बेजोड़ निष्ठा से समृद्ध पाठशाला साहित्य सभा यह काम कर सकती है।

समय बदल गया है। बदल गए हैं माहौल-परिस्थितियां भी। विज्ञान-तकनीक की आश्चर्यजनक प्रगति ने एक ओर जहां इंसान को आराम तलब और सुविधाभोगी बना दिया है, वहीं दूसरी ओर नई-नई चुनौती, नई चिंताएं और नए मूल्यबोध को भी उसके सामने लाकर खड़ा कर दिया है। ऐसी स्थिति में एक साहित्य संगठन के कामकाज के दायरे में भी बदलाव हो सकता है।

कृषि, प्रकृति, पशुधन और बिहू

बिहू की उत्पत्ति, विकास अथवा इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि विभिन्न विषयों पर अभी भी विद्वानों में मतभेद हैं। यह सारे मुद्दे आज भी विद्वान अथवा विशेषज्ञों के लिए अध्ययन और शोध का विषय बने हुए हैं। मगर बिहू से संबंधित एक बात पर सारे विद्वान एकमत हैं कि बिहू मूलत: एक कृषि आधारित उत्सव है और प्रकृति के साथ इसका अटूट संबंध है। अर्थात ऋतु परिवर्तन ही बिहू का कारक अथवा बिहू के आगमन का सूचक है। बिहू उत्सव के साथ जुड़ा कपौ फूल (एक प्रकार का आर्किड) बिहू के साथ प्रकृति के संबंधों को प्रमाणित करता है। दूसरी ओर, फसल बोने अथवा फसल काटने के समय के साथ समन्वय रखते हुए पालन किए जाने वाले कार्तिक बिहू अथवा माघ बिहू भी यह साबित करते हैं कि बिहू एक कृषि आधारित उत्सव है।

समय में आ रहे बदलाव के साथ बिहू के स्वरूप में भी बदलाव आया है। गांवों के मैदानों में मनाया जाने वाला बिहू अब शहरों तक पहुंच गया है। पेड़ के नीचे मनाए जाने वाले बिहू को शहर में अब मंच जैसी सुविधाएं उपलब्ध हैं। बिहू के स्वत:स्फूर्त बदलाव ने भी बिहू को एक नया स्वरूप प्रदान किया है। संगठित प्रयास अर्थात् सलीके से बिहू आयोजित किए जाने की एक परंपरा अथवा व्यवस्था का भी जन्म हुआ। गांव के युवक-युवतियों के प्रकृति का आह्वान करते हुए बिहू में मतवाले

होकर घर से बाहर निकल आने के दिन लद गए। अब तो गांव-शहर दोनों जगह ही युवक-युवतियां प्रदर्शन और प्रतियोगिता के लिए कड़ी मेहनत के दम बिहू के मंच पर अपनी जगह पक्की करने में लगे रहते हैं। बहुत से मामलों में तो बिहू का व्यवसायीकरण भी दिखने लगा है। आधुनिक युग के जनसंचार माध्यमों ने भी बिहू के स्वरूप और चरित्र में भारी बदलाव लाए हैं।

मगर जिस तरह मनुष्य के बाहरी स्वरूप में बदलाव आने पर भी उसकी आत्मा नहीं बदलती, ठीक इसी तरह कुछ वस्तुओं का बाहरी परिवर्तन होने पर भी उसकी बुनियाद में परिवर्तन नहीं होता। आज वृहत्तर असमिया जाति का जितना ही स्वरूप, कला-संस्कृति में परिवर्तन क्यों न हो जाए, असमिया जाति की बुनियाद असमिया भाषा सदैव जिंदा रहेगी और असमिया भाषा हमेशा जाति की ताकत की प्रतीक बनी रहेगी। दुर्भाग्यवश यदि असमिया भाषा ही किसी दिन खत्म हो जाए तो फिर वृहत्तर असमिया जाति का अस्तित्व भी उसी दिन समाप्त हो जाएगा दूसरी ओर अपनी मातृभाषा अथवा राज्य भाषा के रूप में असमिया भाषा को गले लगाने वालों की संख्या में जितनी बढ़ोतरी होगी, असमिया जाति भी उतनी ही समृद्ध व शक्तिशाली होगी, इसमें कोई दो राय नहीं है।

इसी तरह वक्त के बदलाव के साथ बिहू के स्वरूप में चाहे कितना ही बदलाव क्यों न आए, बिहू की बुनियाद हमेशा कृषि व प्रकृति पर ही टिकी रहेगी। इसीलिए कृषि व प्रकृति के विकास में ही बिहू के आयोजन की सार्थकता छिपी हुई है। कृषि और प्रकृति के विकास की कोशिशें किए बिना बिहू का आयोजन एक आत्मीयता शून्य प्रयास मात्र होगा। दुर्भाग्य की बात तो यही है कि आज हमारे असम में वैसा ही हो रहा है।

असम में अब चारों ओर जंगलों को ध्वस्त किया जा रहा है। इस बारे में रोज समाचारपत्रों में पढ़ने को मिल ही जाता है। कहीं पेड़ों की कटाई की जा रही है, तो कहीं पहाड़ों को ध्वस्त किया जा रहा है। हरियाली बंजर भूमि में और कल तक खड़े रहने वाले ऊंचे-ऊंचे पहाड़ मटियामेट हुए नजर आते हैं। कहीं जलाशयों को मिट्टी से भरा जा रहा है तो कहीं लोगों ने कल-कल बहने वाली नदी में गंदगी डाल-डालकर उसे एक गंदगी से भरे नाले में तब्दील कर दिया है। वनांचलों को ध्वस्त कर लोगों ने उस जगह जन बस्तियां बसा ली हैं। प्लास्टिक के कचरे से पूरा माहौल भर गया है। गाय जैसे मवेशियों के घास चरने के लिए हरे-भरे मैदान अब दूर की चीजें हुईं। गाएं भी जहां-तहां प्लास्टिक के थैले चरती नजर आती हैं। ऐसी स्थिति

में ऋतु परिवर्तन, बैशाख और वसंत के पैगाम के साथ प्रकृति अपना रूप कैसे बदल सकती है। ध्वस्त होती प्रकृति और बिगड़ते पर्यावरण के बीच आज स्वाभाविक तरीके से बिहू अथवा बैशाख नहीं आता, वह सिर्फ कैलेंडर के पन्नों में आता है। इन हालात ने बिहू के आयोजन पर भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाला है। बिहू नृत्यांगनाओं के लिए सबसे जरूरी कपौ फूल आज खोजने पर भी नहीं मिलता। यह होना ही है। यदि पेड़ ही नहीं बचेंगे तो कपौ फूल जैसा आर्किड भी कहां से हासिल होगा। कपौ फूल के संरक्षण अथवा संवर्द्धन की ओर भी कोई ध्यान दे रहा है, ऐसा नहीं दिखता। सिर्फ कपौ फूल ही नहीं, लगता है समस्त असमवासियों ने ही पेड़ लगाने छोड़ दिए है। अपने घर का कमरा बड़ा करने के लिए अथवा नया एक कमरा बनाने के लिए पढ़े-लिखे, विद्वान-बुद्धिजीवी भी अपने घर के परिसर में लगे बड़े-बड़े पेड़ों को पल भर में कटवा डालते हैं और उससे पहले अथवा बाद में तनिक भी नहीं सोचते कि उन्होंने प्रकृति का कितना बड़ा नुकसान कर डाला है। ऐसा बहुत कम ही देखने को मिलता है कि कोई पूरी तन्मयता के साथ कोई पौधा लगा रहा हो। बस इसी तरह असम की प्रकृति को खत्म किया जा रहा है। इन सब कारणों से पर्यावरण में जिस प्रकार के चिंताजनक बदलाव देखे जा रहे हैं, ठीक उसी तरह बिहू का उत्सव भी एक आधारहीन-लक्ष्यहीन कोशिश मात्र लगता है। असम में अब लगता है प्रकृति के संरक्षण और संवर्द्धन के बारे में सोचने-करने की जिम्मेदारी बस कई गैर-सरकारी प्रकृतिप्रेमी संगठनों तक ही सिमटकर रह गई है।

इसी तरह से बिहू के साथ जुड़ा कृषि जगत भी राज्य का एक उपेक्षित क्षेत्र नजर आता है। वैसे भी आज से ही नहीं, प्राचीन काल से ही असम में कृषि को एक बहुत सम्मानजनक वृत्ति के तौर पर नहीं देखा जाता है। कुछ लोगों में पहले से ही ऐसी भावना रही है कि अनपढ़ ग्रामीण लोग ही खेती-बाड़ी का काम करते हैं। हाल के दिनों में असम के मूल निवासियों द्वारा भी कृषि कार्य को और अधिक उपेक्षापूर्ण नजरों से देखा जाने लगा है। हमारी नई पीढ़ी में कृषि के प्रति कोई उत्साह अथवा लगाव देखने को नहीं मिलता। इसी का नतीजा है कि कृषि अथवा कृषि से जुड़े अन्य सभी काम अब पूर्वी बंगाल के मुसलमानों और बांग्लादेशियों के हाथों में चले गए हैं। शराब, मोबाइल और मोटरसाइकिल की संस्कृति ने हमको पंगू बनाकर छोड़ दिया है। इसी का नतीजा है कि आज कृषि सामग्री की कीमतें भी आकाश छूने लगी हैं।

मगर यदि असम की हरी-भरी प्रकृति नहीं रही, कृषि जगत यदि असमिया लोगों के कब्जे में नहीं रहा तो हो सकता है एक दिन बिहू भी नहीं रहेगा। क्योंकि हम पहले

ही कह चुके हैं कि बिहू का आधार प्रकृति और कृषि है न कि नगर-शहर के बिहू मंच।

यहां और एक बात का उल्लेख करना जरूरी है। बिहू का मतलब सिर्फ मनुष्यों के बिहू को लेकर ही नहीं है। भारतीय संस्कृति 'जहां जीव-वहां शिव' के आदर्श को मानती है और इसी के अंतर्गत असमिया संस्कृति ने भी अब तक गोरू बिहू के माध्यम से अबोध जीव-जंतुओं के लिए भी नहान-खान-पान की एक परंपरा को जिंदा रखा है। मगर अब जैसे अन्य परंपरा-संस्कृति को अलविदा कहा जा रहा है, वैसे ही घर के ग्वालघर में पलने-बढ़ने वाली गायें तथा अन्य मवेशियों को भी विदा किया जा रहा है। नगर-शहर में निवास करने वाले लोगों के घरों में अब गाय-बकरियों की जगह हाईब्रीड वाले विदेशी नस्ल के कुत्तों ने ले ली है। ग्रामीण क्षेत्र में संपूर्ण सुविधाएं होने के बावजूद लोगों ने तरह-तरह के बहाने बना मवेशियों को पालना छोड़ दिया है। ऐसी स्थिति में गोरू बिहू की परंपरा भी अपनी प्रासंगिकता खो चुकी है।

बिहू गीत और डॉ. भूपेन हजारिका

महासागर के दोनों किनारों को मापा नहीं जा सकता। उसकी गहराई कितनी है वह भी जानना संभव नहीं है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि सागर की गहराई सब जगह एक समान नहीं है। कहीं गहराई अधिक है तो कहीं कम। ठीक ऐसे ही किसी महासागर की तरह थे हमारे सुधाकंठ डॉ. भूपेन हजारिका। ऐसे कलाकार के निधन के बाद तो असम का सांस्कृतिक जगत ही सूना हो गया। इस सूनेपन को कौन भरेगा, यह सांस्कृतिक जगत में चर्चा का विषय बना हुआ है। देखते-ही-देखते सुधाकंठ के निधन को लंबा अरसा बीत गया और इसी तरह बाकी के दिन भी गुजर जाएंगे। निधन के बाद भूपेन दा को लेकर चर्चाओं का लंबा दौर चला था, विशेषकर उनकी कला, उनकी रचनाओं के संरक्षण, पुस्तकालय के निर्माण और उनके गीतों के संकलन आदि पर गंभीरता से चर्चाएं की गईं। राज्य के कई हिस्सों में भूपेन दा की आवक्ष मूर्तियां स्थापित की गई हैं। कई जगह तोरण द्वार का निर्माण तथा उद्यानों का उनके नाम से नामकरण आदि भी किया गया है। सुधाकंठ के नाम पर राज्य के विभिन्न स्थानों पर सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाने पर वह कार्यक्रम अथवा उसका मंच डॉ. भूपेन हजारिका के नाम पर समर्पित किया जाता है। यह प्रक्रिया आगे भविष्य में भी चलती रहेगी। मगर बात यह भी है कि जिस कलाकार की मृत्यु के बाद उनके गीतों को सार्वजनिक स्थानों पर हमेशा बजाते रहने की जो मांग उठी थी, उस मांग के स्वर समय बीतने के साथ ही कमजोर पड़ने लगे। इस बारे में कुछ लोगों

की दलील थी कि डॉ. हजारिका के गीत यदि सदैव बजते रहें तो उन गानों का आकर्षण धीरे-धीरे कम होने लगेगा, मगर इस दलील को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि जो बातें सर्वमान्य होती हैं, वे यदि हमेशा चर्चा में रहें तो भी वैसी चर्चाएं कभी खत्म नहीं होतीं।

डॉ. हजारिका के कुछ गीत अन्य गायक कलाकार बिहू के मंचों पर गाते आए हैं। ऐसा स्वाभाविक भी है। मगर हमारा अनुरोध रहेगा कि अन्य कलाकार भूपेन दा के गीतों के स्वर को विकृत न करें अथवा गीतों का उच्चारण सही ढंग से करें। इसके अलावा आयोजकों को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि कोई मंच पर सुधाकंठ की तस्वीर रख उसके सामने विकृत नृत्य-गीत प्रस्तुत न कर सके। रबींद्र संगीत अथवा रबींद्र नाथ टैगोर की तस्वीर के सामने जिस तरह ऐसे-वैसे कार्यक्रमों के आयोजनों पर अलिखित पाबंदी है, वैसी ही पाबंदी भूपेन दा के मामले में भी होनी चाहिए, क्योंकि भूपेन दा का अपमान करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। इस मामले में आयोजकों को विशेष रूप से सतर्क रहना होगा। डॉ. भूपेन हजारिका के गीत जो भी चाहे जितनी भी बार गाए-गुनगुनाए, इस बारे में हमें कुछ नहीं कहना है। क्योंकि हमारा मानना है उनके गीतों को जितना अधिक गाया-बजाया जाएगा, नई पीढ़ी के दिल में उनके प्रति उतनी ही गहरी छाप पड़ेगी। मगर यदि इन गीतों का रिमिक्स किया जाए अथवा इनके सुरों को विकृत किया जाए तो विवाद उठ खड़ा होना तय है। वैसे कोई भी इस प्रकार का विवाद नहीं चाहता, क्योंकि हम सभी चाहते हैं कि भूपेन दा हमारे दिलों में आत्मीय बनकर रहें।

भूपेन दा के ऐसे बहुत से गीत हैं, जिन्हें बिहू के मंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। उनके कंठस्वर से निकले बिहू गीत किसी समय राज्य के हर एक बिहू मंच पर गूंजा करते थे। मगर अब ऐसे बिहू गीत भूलने-भुलाने के कगार पर हैं। डॉ. भूपेन हजारिका के बिहू गीतों में सचमुच मिट्टी की सुगंध मिलती है। 'ऐ माकन तोर घर इपारत माकन मोर घोर इपारत' जैसे गीत कई साल पहले तक सभी कोई गुनगुनाया करते थे। डॉ. हजारिका के अन्य गीतों को जितना महत्त्व दिया गया, उनके बिहू गीतों को उतना महत्त्व नहीं दिया गया। हम चाहते हैं कि हर साल बिहू के मौके पर सभी मंचों पर कलाकार भूपेन दा के बिहू गीतों को प्रस्तुत कर सुधाकंठ की यादों को जिंदा रखें। डॉ. भूपेन हजारिका के बिहू गीतों को यदि हम अलग से संरक्षित कर पाएं तो ये भविष्य की अनमोल संपदा साबित हो सकती है।

समन्वय की एक डोर थे भूपेन दा

पूर्वोत्तर के सात राज्य अर्थात् सात बहनों के बीच मिलन-सेतु बनाने के लिए डॉ. भूपेन हजारिका ने हमेशा ही बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। असम से शुरू कर नगालैंड, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय सभी प्रदेशों के लोगों के दिलों में इस कलाकार के लिए एक विशेष स्थान है। भूपेन दा नगा पहाड़ के शिखर तक जाकर वहां रहने वाले नगा भाई-बहनों के संग न पूरी आत्मीयता के साथ रहते थे, बल्कि उनकी भाषा-संस्कृति का ठीक से अध्ययन कर अपने गीतों में उसका सटीक उपयोग भी करते थे। अपने गीतों के माध्यम से वे नगा लोगों के दुख-दर्द को दुनिया के सामने रखा करते थे। भूपेन दा उनके दुख-सुख के सहभागी थे। सिर्फ नगालैंड ही क्यों, अरुणाचल की मनोरम पहाड़ियों पर अपनी फिल्म की शूटिंग करते समय वे वहां के पहाड़ी लोगों के साथ भी बिल्कुल घुल-मिल गए थे। मनपा युवतियों की देह को दूध और सिंदूर मिला बताते हुए वर्णन करते वक्त उनकी भावनाओं में किसी प्रकार की अश्लीलता नहीं दिखती। उनकी इस भावना में सिर्फ कलाकार सुलभ मानसिकता ही दिखती है। उनकी फिल्मों के विभिन्न दृश्यों में मेघ और कुहासे को चीरकर धरा पर सूर्य

रश्मियों की अठखेलियां बहुत ही मनमोहक नजर आती हैं। जब भी भूपेन दा अरुणाचल के लोगों की सामाजिकचर्या, दिनचर्या समझने-महसूस करने के लिए अरुणाचली लोगों के बीच गए, वहां के लोगों ने भी भूपेन दा को सिर-माथे पर बिठाया। पहाड़ों से नीचे उतरकर आने के बाद सुधाकंठ ने पहाड़ी लोगों की भावना-अनुभूतियों को अपने गीतों में ढालकर पहाड़ और मैदानी इलाके के लोगों के बीच एक समन्वय स्थापित करने का ईमानदार प्रयास किया। मानव मात्र के लिए उनके दिल में जगह थी। ऐसा नहीं है कि उन्होंने सिर्फ पूर्वोत्तर के सात राज्यों के लोगों के बीच ही समन्वय स्थापित करने का काम किया, वे अन्य राज्यों के लोगों को भी समान दृष्टि से देखा करते थे। कोई भी व्यक्ति उनके लिए दीन-हीन अथवा अछूत नहीं था, उनके गीतों में भी उनकी इसी भावना की झलक मिलती है। ऐसे बहुत कम कलाकार ही होंगे, जिनकी सभी जाति-जनजाति में लोकप्रियता एक समान हो। वे अपनी जाति को जितना प्यार-सम्मान दिया करते थे, पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों की सभी जातियों को भी वही सम्मान-आदर दिया करते थे। भूपेन दा ऐसे कलाकारों में नहीं थे, जो जनजाति भाई-बहनों से दूरी बनाकर चलते हैं। वे मिट्टी से जुड़े कलाकार थे और मिट्टी की सुगंध की तलाश में ही रहते थे। उन्हें कंक्रीट से बने महलों से अधिक टूटी-फूटी झोपड़ियां प्रिय थीं। किसी पहाड़ी के शिखर पर रहने वाले, बाहरी दुनिया से बिल्कुल अलग-थलग, किसी अकेले-तन्हा व्यक्ति के घर में रात गुजारते हुए गीतों की रचना करने वाले कलाकारों में से थे भूपेन दा। विभिन्न जनजातियों के बीच खड़ी भेदभाव की दीवार को तोड़ने की कोशिश में वे ताउम्र लगे रहे। वे जहां भी गए उन्होंने शांति, प्रेम, समन्वय और सद्भावना का ही प्रचार किया। यह बात वे बहुत अच्छी तरह से जानते थे कि एकमात्र गीतों के द्वारा ही सातों राज्यों के निवासियों को एकता व समन्वय के सूत्र में बांधकर रखा जा सकता है। दुनिया में ऐसे बहुत कम लोग ही होंगे, जिन्हें गीत-गाने पसंद न हों। इसीलिए आम जनता तक एक साहित्यकार की अपेक्षा एक गायक बड़ी आसानी से पहुंच जाता है। भूपेन दा ने पूर्वोत्तर के लोगों को एकजुट किए रखने के लिए सिर्फ गीत लिखे ही नहीं थे, जगह-जगह जाकर उन गीतों को भरी सभाओं में गाया भी था, ताकि वे अपने प्रेम, आपसी भाईचारे और सद्भाव के पैगाम को लोगों तक पहुंचा सके। इसीलिए भूपेन दा जहां भी जाते थे, एक जनसैलाब उनके पीछे-पीछे हो लेता था। लोगों की इस भीड़ को देख उनको काम करने की और अधिक ऊर्जा मिलती थी। उन्होंने यह साबित कर दिया था कि संस्कृति के मैदान में भेदभाव और अलगाववाद के लिए कोई जगह नहीं है।

संकट की घड़ी में वे दोस्त बनकर सभी के साथ हो लेते थे और अपने गीतों के माध्यम से दुख-कष्ट को हरने की कोशिश करते थे। अपने गीतों से उन्होंने अशांत माहौल को शांत किया, अलगाववादियों को पराजित किया। जरूरत पड़ने पर कभी वे सीमावर्ती गांवों में पहुंच गए तो कभी नगा पहाड़ अथवा अरुणाचल की पहाड़ियों की सैर की। उनकी तलाश सिर्फ कला को लेकर थी, न कि अन्य किसी संपदा के लिए।

उनके गीतों में आमतौर पर जनजातीय शब्द तथा जनजातीय युवक-युवतियों के नामों का जिक्र होता था। मिजो, नगा, खासी, जयंतिया, कार्बी पहाड़ के युवक-युवतियों के नाम, उनकी पवित्र प्रेम कहानियां ही भूपेन दा के गीतों का मुख्य आधार हुआ करती थीं। दिसांगमुख के मिसिंग युवाओं की प्रेम कहानियों ने उनके दिल को जिस तरह से स्पर्श किया था, बाद में वही अनुभूति उनके गीतों में उभरकर सामने आई। ऐसे सभी गीत हमेशा जिंदा रहेंगे। इतिहास भी चीख-चीखकर सुधाकंठ के गीतों की कहानियों को दोहराएगा। जितने दिन सातों बहनों का अस्तित्व रहेगा, उतने ही दिन भूपेन दा भी अमर रहेंगे।

समाज से अलग नही हैं विकलांग

बात चाहे सरकार की हो, समाज की अथवा व्यक्ति विशेष की विकलांग भाइयों के लिए करने को बहुत कुछ है और अभी भी बहुत कुछ किया जाना बाकी है। कुछ लोगों ने इन विकलांगों को लेकर समाज में एक अलग ही तबका बना दिया है। इस तथाकथित तबके को लेकर समाज में लंबी-लंबी चर्चाएं होती रहती हैं। ऐसी चर्चाओं में भाग लेने वाले लोगों के लिए मानो विकलांग मात्र दया के पात्र हैं। वातानुकूलित कमरों में बैठकर यह लोग विकलांगों की भलाई और विकास के लिए ब्लूप्रिंट बनाते हैं, हकीकत में देखने जाएं तो ये लोग किसी विकलांग के घर में कदम तक नहीं रखते। दरअसल विकलांगों के लिए जो करना चाहिए, वह काम हुआ है या नहीं? इसका कभी भी विश्लेषण नहीं किया जाता। साल में बस एक बार विश्व विकलांग दिवस का पालन करते हैं। उन लोगों के लिए इतना-सा भर करके ही जिम्मेदारियों को समेट लिया जाता है। उसके बाद फिर साल के गुजर जाने पर सभा-समारोह का आयोजन करने में लग जाते हैं, ये लोग। विकलांगों के प्रति प्रेम प्रदर्शन का सिलसिला इसी तरह चल रहा है और आगे भविष्य में भी इसी तरह ही चलता रहेगा। हालांकि इन सबके बीच कुछ ऐसे व्यक्ति-संगठन भी हैं, जो बिना किसी प्रचार-पद लालसा के चुपचाप विकलांगों की भलाई के काम में लगे हैं।

हमारे समाज में विकलांगों को लेकर जो सोच है, वह इक्कीसवीं शताब्दी में भी बदली नहीं है। समाज में आज भी बहुत से ऐसे लोग हैं, जिन्हें किसी शुभ काम के लिए घर से बाहर निकलते वक्त कोई विकलांग दिख जाए तो वे लोग तीन कदम पीछे हट जाते हैं। वे एक बार भी नहीं सोचते कि शारीरिक रूप से विकलांग होने पर भी उसका मन पवित्र-निर्मल भी हो सकता है। हो सकता है शुभ काम में विघ्न पड़ने के डर से निर्मल हृदय वाले जिस विकलांग व्यक्ति को देखकर सामने वाले ने अपने तीन कदम पीछे खींच लिए हैं, उसी व्यक्ति की कार्य सिद्धि के लिए निर्मल-मन विकलांग व्यक्ति प्रार्थना कर रहा हो। इससे दुख की बात और क्या हो

सकती है कि जो व्यक्ति सामने वाले की मंगल के लिए प्रार्थना कर रहा है, वही व्यक्ति उसके लिए घृणा का पात्र हो।

हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि विकलांग व्यक्ति भी हमारे समाज का ही अंग है। महाभारत के प्रमुख पात्र धृतराष्ट्र जन्मांध थे। बहुत से लोगों को संभवत: पता नहीं होगा कि नेपोलियन के हृदय में छेद था, जबकि इस वीर योद्धा ने अपने पराक्रम के दम पर पूरी दुनिया को हिलाकर रख दिया था। वाटरलु के युद्ध में फरासियों की हार के लिए नेपोलियन की विकलांगता नहीं, विश्वासघातकता जिम्मेदार थी। लिहाजा किसी भी विकलांग व्यक्ति का मूल्यांकन अन्य दूसरे लोगों की तरह ही किया जाना चाहिए। अब समय आ गया है कि हम अपनी सोच को बदलें। हम सभी महा आकाश में रेस्टूरेंट खोलने की बात सोचने लगे हैं, मगर विकलांगों को लेकर हमारे समाज में, हमारे दिलो-दिमाग में जो धारणा है उसे हम बदलने के लिए तनिक भी तैयार नहीं हैं। विज्ञान के इस उत्थान के दौर में भी हम सीमित दायरे में ही बंधे हुए हैं।

असम के विभिन्न हिस्सों में इन दिनों कई समाजसेवी संगठन और व्यक्ति अपने बूते पर इन विकलांगों की सेवा करने में लगे हैं। मगर कई स्थानों पर ऐसे लोगों को विभिन्न प्रकार की असुविधाओं का भी सामना करना पड़ रहा है। समाज के कई तथाकथित नेता न सिर्फ इनके खिलाफ अफवाहें फैलाते हैं, बल्कि इनके काम में भी अड़ंगा लगाते हैं।

यह बात हमें अपने दिलो-दिमाग में अच्छी तरह से बैठा लेनी चाहिए कि हमें विकलांगों के लिए भी एक ऐसा माहौल बनाना होगा, जैसा माहौल समाज के अन्य सामान्य लोगों को उपलब्ध है। विकलांग किसी प्रकार की हीन भावना से ग्रसित न हों, इसके लिए उन्हें भी सामान्य लोगों के साथ एक ही कतार में बैठाना होगा। विकलांगों के दिल में ऐसी भावना का उदय करना होगा कि मानो वे समाज के एक विशेष तबके के लोग हैं, क्योंकि विकलांगों को नजरअंदाज कर हम एक स्वस्थ समाज की कल्पना तो कतई नहीं कर सकते। यदि विकलांग विकास की दौड़ में पीछे रहते हैं तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस कारण से समाज का विकास भी पूरी तरह प्रभावित होगा। दुनिया का कोई भी देश इस तबके के लोगों को नजरअंदाज कर खुद का विकास नहीं कर पाया है। विकसित देशों में विकलांगों की भलाई व कल्याण के लिए ढेरों योजनाएं चलाई जा रही हैं। उस तुलना में हम काफी पिछड़े हुए हैं। विकलांगों के लिए सेवा भाव के साथ काम करना समाज के हर एक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।

एक अपरिचित दोस्त की बातें

एक दिन मैं गुवाहाटी के जीएस रोड के फुटपाथ से पैदल जा रहा था कि सामने से आते एक प्रौढ़ व्यक्ति पर नजर पड़ी। उसके मलिन शरीर, अस्त-व्यस्त कपड़ों को देखकर ही समझ में आ गया कि वह मानसिक तनाव की स्थिति से गुजर रहा है। मानसिक तनाव के भारी दबाव के कारण लगता है वह व्यक्ति पूरी तरह से टूट गया था। सामने से आ रहा वह व्यक्ति मेरी ओर देख रहा था। बाद में मैंने ध्यान दिया तो पाया कि वह व्यक्ति बहुत समय से मेरी ओर देख रहा था। उसकी इस हरकत को देख मेरे दिल में ख्याल आया कि क्या सामने से आ रहा व्यक्ति मेरा कोई पूर्व परिचित है? मैंने उसके बारे में याद करने की बहुत कोशिश की, मगर मुझे कुछ भी याद नहीं आया। काफी दिमागी कसरत करने के बावजूद मेरा प्रयास विफल साबित हुआ। और दो कदम आगे बढ़ने के बाद उस व्यक्ति ने ही आवाज दी-मुझे पहचाना। मैंने कहा-ठीक से याद नहीं कर पा रहा हूं। उसने कहा-क्यों कई साल पहले ही तो आपसे मिला था, तब हमने आपस में बहुत-सी बातें की थीं। हालांकि तब मैं ऐसी हालत में नहीं था। अत्याधुनिक गाड़ी में आया था। एक कार्यक्रम में आपसे मुलाकात हुई थी। उस व्यक्ति की बातें सुनने के बाद मुझे ध्यान आया कि कई साल पहले उस व्यक्ति से कहीं, किसी कार्यक्रम में मिला था। मगर उस व्यक्ति की ऐसी स्थिति

हो गई! समय की भी क्या विचित्र माया है। उनकी स्थिति ऐसी क्यों हो गई, सवाल मेरे मन में उठा जरूर, मगर उनसे पूछने की हिम्मत नहीं जुटा पाया।

बड़ी ही नम्रता के साथ उनसे पूछा- आप आजकल क्या कर रहे हैं। मेरे इस तरह से पूछने के साथ-साथ उन्होंने कुछ उल्टा-पुल्टा जवाब दिया। उनका जवाब देने का तरीका देख मुझे कुछ आश्चर्य भी हुआ। उनकी बातों से मुझे लगा कि जैसे वे अपना मानसिक संतुलन खो चुके हैं। हालांकि मेरे इस बारे में पूछने से पहले ही वह व्यक्ति अनर्गल बातें करने लगा। सुनेंगे मेरे जीवन की कहानी। इंसान के जीवन में कितनी करुण घटना घट सकती है, आप सोच भी नहीं सकते। मनुष्य का जीवन किसी पत्थर की तरह कठोर होता है और गुलाब की पंखुड़ियों की तरह कोमल भी होता है। मानव जीवन कब कौन-सा रूप धारण कर ले, यह भगवान भी नहीं जानते। 'विचित्र जीवन-विचित्र दुनिया'। फुटपाथ पर खड़ा-खड़ा मैं उनकी बातें सुनता रहा। उन्होंने फिर कहा-समझे, मेरा भी एक संसार था। संसार था मतलब, अभी भी है। मगर उसके रहने-न रहने में कोई अंतर नहीं है। सबकुछ है, मगर कुछ भी नहीं है। कुछ लोगों के जीवन में ऐश्वर्य, संपदा, संपत्ति सब कुछ रहती है, मगर सुख नहीं मिलता। पत्नी करीब रहती है, मगर वह भी बहुत दूर किसी अनजान महिला की तरह। बेटे-बेटियां भी हैं, मगर वे पापा कहकर संबोधित नहीं करना चाहते। ऐसा करने में शर्म महसूस करते हैं, क्योंकि मैं उनकी तरह समय की आंधी के साथ विलीन नहीं हो सकता। अर्थात् 'आउट-डेटेड'। पैसे होने से ही कोई व्यक्ति भगवान, गुरु, गोसाईं को मानना छोड़ दे यह तो कोई बात नहीं हुई। पैसे होने से गांव के गरीब-दरिद्र लोगों के साथ मिलना-जुलना कोई अपराध सरीखा कार्य कैसे हो सकता है। गांव के पुराने घर में जाकर आराम करना। आस-पास के ग्रामीण लोगों की खोज-खबर लेना और किसी सामाजिक उत्सव में गांव वालों के साथ शामिल होने से ही क्या कोई 'आउट-डेटेड' हो जाता है। गांव के गरीब भाई-भैया के साथ संबंध रखता हूं, इसीलिए मेरी पत्नी और मेरे बच्चे मुझसे झगड़ा करते हैं। शहर के घर में जब मेरे भाई-भैया और उनके बेटे-बेटियां आती हैं तो मेरे परिवार के लोग उनको तनिक-भर सहन नहीं कर पाते। कुत्तों जैसा व्यवहार करते हैं, उनके साथ। उनको खाना खिलाते वक्त मेरी पत्नी अथवा बेटे-बेटियों के मुंह ऐसे बने रहते हैं, मानो शरीर का मांस ही किसी ने नोंच लिया हो।

समझे, यह सब देखकर बहुत कष्ट होता है। उन्होंने कहा-समझता हूं, मगर नतीजा क्या निकलता है मालूम? वे लोग सब कुछ जानकर भी अनजान बनने का

ढोंग करते रहते हैं। मैं गांव में ही पला-बढ़ा हूं। एक दिन पिता जी ने शहर की एक लड़की से मेरी शादी करवा दी। शादी के साल भर के बाद से ही हम मियां-बीबी में खटपट शुरू हो गई थी। बाद में तीन बच्चे भी हुए। परिवार भी चलता रहा, ठीक किसी पहिए की तरह। कभी-कभी घूमता है और कभी-कभी नहीं घूमता। मगर अब वह पहिया नहीं घूमता, क्योंकि उसमें जंग लग गई है। बेटे-बेटियां मेरी सुनते नहीं। रात-दोपहर कौन किसके साथ, कहां घूम रहा है मुझे इसकी जानकारी तक नहीं रहती। कुछ पूछूं भी तो जवाब तक नहीं देते। पत्नी की बात न पूछो तो बेहतर है। अब तो उसको देखकर पास-पड़ोस के लोग भी भाग खड़े होते हैं। उसके मुंह से हर वक्त शराब की बू आती रहती है। रास्ते में कहीं मुझे देख भी ले तो बात नहीं करती। मेरा किसी के साथ अपने पति के रूप में परिचय कराने में उसे शर्म आती है। कहते हैं मैं आउट-डेटेड हो गया हूं। समझे, सब झूठ है। मैं अपनी आपबीती यदि किसी और को सुनाऊं तो वह इसे किसी फिल्म की कहानी ही समझेगा। इसीलिए दिल की व्यथा किसी के आगे कह नहीं सकता, अपने गांव वापस जा नहीं सकता। अपने भाइयों को क्या मुंह दिखाऊंगा। भारी मानसिक दबाव में रहता हूं। तुम ही बताओं क्या इस तरह कोई जिंदा रह सकता है भला।

उस व्यक्ति की कहानी सुन मेरा भी मन भारी हो गया। उसके बाद उस व्यक्ति से कई बार मुलाकातें हुईं। एक ही बातें। यही जीवन है- मानव जीवन। द्वंद्व में गुजरता एक असहनीय जीवन।

एक वृद्ध दंपति की कहानी

अकेला जीवन कितना पीड़ादायक होता है, इसकी व्याख्या सिवाय भुक्तभोगी के और कोई नहीं कर सकता। कोई भी व्यक्ति अकेले जीवन की कामना नहीं करता। किसी निर्जन द्वीप में कौन भला जाकर रहना चाहेगा। यह सही है इंसान अकेले ही जन्म लेता है और बिना किसी साथी-संगी के अकेले ही इस दुनिया से कूच कर जाता है, मगर इस आने-जाने के बीच के समय में हर एक व्यक्ति अपना कोई साथी चाहता है। इंसान ने जब से समाज बनाकर निवास करना शुरू किया है, तब से ही उसे साथी की जरूरत पड़ती रही है। परिवार को केंद्रित करके ही सब कुछ बनता-बिगड़ता है। एक व्यक्ति से कभी भी एक परिवार संपूर्ण नहीं होता। एकल परिवार के जमाने में भी ऐसे परिवारों में कम से कम दो-तीन सदस्य रहते हैं। पति-पत्नी और बच्चों को लेकर ही आज की दुनिया का मायाजाल बुना जाता है। मगर जब मां-बाप से वही बच्चे अलग-दूर हो जाते हैं, तब मां-बाप की मानसिक स्थिति कैसी होती होगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। हर मां-बाप अपने बच्चों को स्वयं से ऊपर रखना चाहते हैं। क्योंकि वे अपने बच्चों को केंद्रित कर के ही जिंदा रहने का सपना देखते हैं और जब उनका वह सपना पूरा होता है तो उनकी दुनिया ही महकने लगती है। मगर वह सपना पल्लवित होने से पहले ही यदि टूट जाए तो वैसे माता-पिताओं की स्थिति बेहद दुखदायी हो जाती है। ऐसे लोगों के लिए उनका जीवन ही एक चुनौती बन जाता है। ऐसे अकेले वृद्ध-वृद्धा के शारीरिक-मानसिक स्थिति की कल्पना करने में भी तकलीफ होती है।

कुछ ऐसी ही हालत है महानगर के उस वृद्ध दंपति की। बेहद आत्मीय है उनके साथ हमारे संबंध। (हालांकि उनका नाम उल्लेख नहीं कर पा रहा हूं)। उनके दो बेटे और एक बेटी हैं। उच्च शिक्षित परिवार है। मां-बाप ने बहुत तकलीफें उठाकर एक बेटे को डॉक्टर बनाया और दूसरे को इंजीनियर। बेटी की शादी कर दी, वह बेंगलुरु

में रहती है और उसके पति भारत सरकार के एक उच्चस्तरीय अधिकारी हैं। पिछले पांच वर्षों से यह वृद्ध दंपति एक छह मंजिला मकान के कमरा नंबर-10 में अकेले रहता है। एक दिन इस दंपति ने मुझे फोन किया- गोपाल, क्या तुम एक बार हमारे यहां आ पाओगे? हमारी हालत अच्छी नहीं है। फोन पर बातें पूरी होने के थोड़ी ही देर बाद मैं उनके घर पहुंच गया। वहां जाकर वृद्ध दंपति की हालत देखकर मेरा दिल दहल गया। कुछ पूछना चाहते हुए भी पूछ नहीं पाया। वैसे तो उनसे पूछने को बहुत-सी बातें थीं। मगर समझ में ही नहीं आ रहा था -क्या पूछूं, कहां से पूछना शुरू करूं। जो दंपति हमेशा लोगों को हंसाया करता था, वही पति-पत्नी आज गुमशुम से हो गए हैं, हंसना भूल गए हैं। अब यह दंपति लाख कोशिश करने के बावजूद नहीं मुस्कुरा सकते, क्योंकि इनका दिल दुखों के पहाड़ के बोझ तले दबा पड़ा है। इनका दिल चाहता है अपने बच्चों को करीब से देखने का, मगर दिल के चाहने से ही क्या होता है। तीन बेटे-बेटियों के होते हुए भी यह दंपति आज पूरी तरह से अकेला है। और बातें तो रहने ही दें, यह दंपति रसोई बनाकर खाना तक नहीं खा पाता। एक नौकरानी है, मगर वह भी इन्हें वक्त पर खाना बनाकर नहीं देती।

मेरे दिमाग में यह सब बातें चल ही रही थीं कि पति-पत्नी ने कहा-समझे गोपाल तीन-तीन बेटे-बेटियों के होते हुए भी हम कितने अकेले हैं। डॉक्टर-इंजीनियर बनने के बाद से ही दोनों बेटे बाहर रहने लगे हैं। उनके पास घर आने के लिए समय ही नहीं है। उनको फोन करने पर उन्हें कोफ्त होती है। कभी-कभार दिन में यदि दो बार फोन कर लें तो उधर से जवाब आता है- अभी व्यस्त हूं, आप लोगों को और काम नहीं है क्या? बार-बार फोन करने पर वे कुछ रुपए भेज देते हैं। बूढ़े मां-बाप को पैसे भेजकर ही क्या कोई अपनी जिम्मेदारी को संपूर्ण कर सकता है। अपना घर-परिवार है तो क्या अपने बूढ़े मां-बाप को छोड़ देना चाहिए। क्या वे लोग मूर्ख नहीं हैं, जो पैसों का भुगतान कर मां-बाप के कर्ज को चुकाना चाहते हैं। वे लोग भी बूढ़े होंगे और उनके बच्चे भी उनके प्रति वैसा ही उपेक्षा का भाव रख सकते हैं जैसा भाव वह दोनों अपने माता-पिता के प्रति रख रहे हैं। वृद्ध दंपति की यह सब बातें सुनकर दिल द्रवित हो गया। उनकी अंतिम बात ने सोचने पर मजबूर कर दिया कि एक दिन सभी बूढ़े होंगे। बूढ़ा होने पर किसी को भी कचरा समझ घर की दहलीज के बाहर नहीं फेंक दिया जाना चाहिए। ऐसे लोगों के बच्चों के दिलों में भी बाद में ऐसी ही भावना का संचार हो सकता है। उनके घर से वापस लौटते वक्त दिल में यह सवाल रह-रहकर कौंधता रहा-कितना दुखदायी होता है अकेला-नि:संग जीवन।

यासमीन, जिसके लिए जीवन एक चुनौती है

यासमीन आरा अहमद भी बचपन में अन्य लड़कियों की तरह चंचल-चपल और हमेशा इधर-उधर डोलती रहने वाली लड़की थी। अपनी सहेलियों के साथ राजा-रानी का खेल खेलते वक्त बड़ी होकर पूरी दुनिया को जीत लेने का सपना देखा करती थी। यह मानव मात्र का स्वभाव होता है। उम्मीदों के दायरे में कैद रहना इंसानी फितरत होती है। निराशा के भंवर में फंसकर कोई भी व्यक्ति इस दुनिया में नहीं रह सकता। निराशा को दूर करने के लिए इंसान एक जगह से दूसरी जगह घूमता रहता है। उम्मीद मनुष्य को जिंदा रहने की ताकत देता है। जहां उम्मीद नहीं होती, वहां गति भी नहीं रहती। अपनी उम्मीदों को साकार करने के लिए ही यासमीन जिंदा है। अब वह जवान हो गई है। मगर जिंदगी के खूबसूरत रास्ते उसके लिए चुनौती बन गए। पहले ही कदम में फिसल पड़ी वह। स्वस्थ शरीर बीमार पड़ा तो शारीरिक बीमारी ने उसे मानसिक रूप से भी तोड़कर रख दिया। बाद में उसने इस बीमारी को एक चुनौती के रूप में लिया, क्योंकि वह जानती थी कि जिंदगी की जंग जीतनी हो तो चुनौतियों को स्वीकार करना ही होगा। यासमीन को यह बात बेहतर ढंग से समझ में आ गई थी कि जीवन चुनौतियों का सिलसिला है। हर एक कदम पर इंसान को नई-नई चुनौतियों से लड़ना पड़ता है। जो इन चुनौतियों का पूरी दिलेरी के साथ मुकाबला कर पाते हैं, वही जीवन की जंग जीतने में सफल होते हैं।

अपनी पढ़ाई खत्म करने के बाद यासमीन शिक्षक बन बच्चों को पढ़ाने में लग गई। मगर यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं चली। स्नायु रोग से पीड़ित होने के बाद वह घर के एक कमरे की चहारदीवारी के बीच कैद होकर रह गई थी, मगर फिर भी उसने अपने हौसलों को टूटने-बिखरने नहीं दिया। उसने अपना मन पढ़ने-लिखने

में लगाया। वह स्वयं तो नहीं लिख पाती थी। इसलिए वह कहती जाती थी और कोई अन्य उसकी कही बातों को लिखता जाता था। हताशा से कोसों दूर यासमीन के दिल में परिस्थितियों के साथ लड़ते रहने की अदम्य ताकत थी। अन्य स्वस्थ व्यक्तियों की तरह उसकी भी रचनाएं प्रकाशित होने लगीं। सिर्फ यही नहीं, अन्य विकलांगों के लिए भी वह एक आदर्श बन चुकी थी। उसने आगे चलकर यह साबित कर दिया था कि शारीरिक रूप से नहीं, मानसिक रूप से मजबूत होने पर भी व्यक्ति कोई भी काम कर सकता है। आज भी विकलांग होने के बावजूद बहुत से खिलाड़ी आलंपिक में हिस्सा ले रहे हैं। पदक जीत रहे हैं। एक के बाद एक सफलताएं हासिल कर रहे हैं। यासमीन ने भी लेखन के माध्यम से अपनी मानसिक मजबूती को प्रमाणित किया है।

पाठकों ने निश्चय ही क्राइस्ट ब्राउन का नाम सुना होगा। वे भी विकलांग थे, मगर अपनी पेंटिंग्स की वजह से पूरी दुनिया में विख्यात थे। इस संदर्भ में उन्होंने एक बार कहा था–पेंटिंग मेरे लिए सब कुछ है। मैंने जिन घटनाओं को देखा व अनुभव किया, एक निर्जन कारागार के कैदी की तरह मेरे पंगु शरीर में निवास करने वाले हृदय में जितनी चिंताओं की लहरें उठती थीं, मैंने उन सभी को अपनी पेंटिंग के माध्यम से लोगों के सामने रखा था। बाद में उन्होंने अपनी आत्मजीवनी 'माई लेफ्ट फुट' लिखकर भी खासी ख्याति अर्जित की थी। हालांकि यासमीन ने क्राइस्ट ब्राउन की बराबरी नहीं की है, मगर उनके पदचिन्हों पर चलते हुए सभी में चर्चा का विषय जरूर बन गई है।

असम में यासमीन की तरह बहुत से विकलांग हैं। हमें इन सभी को अन्य लोगों की तरह समाज में उचित स्थान देना होगा, एक ही कतार में बिठाना होगा। ऐसा करने के बाद ही हम गौरव के साथ यह कह सकेंगे कि मानव जाति में कोई भिन्नता–भेदभाव नहीं है। यासमीन को भी ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि वह अकेली है। जीवन संग्राम के इस कंटकमय मार्ग पर चलने वाले विकलांग भाई–बहनों को हमें यह विश्वास दिलाना होगा कि उनकी मदद–सहयोग के लिए अन्य सभी लोग सदैव तैयार खड़े हैं और हमें इस तरह का माहौल भी बनाना होगा। एक जाति, एक समाज–इस मूलमंत्र के साथ मानव जाति आगे बढ़ेगी, इस बात का सभी विकलांग भाई–बहनों को यकीन दिलाना होगा। इस दुनिया में हर एक व्यक्ति अकेला आया है और अकेला ही दुनिया छोड़ चला जाएगा। लिहाजा दुनिया में चार दिन गुजारने के दौरान व्यक्ति को सभी के प्रति सहनशील और उदार–मन होना चाहिए। भले ही हमारे साथ कोई जाएगा नहीं, मगर हम साथ–साथ चार कदम तो चल ही सकते हैं।

पत्रकार, पत्रकारिता और चुनौतियां

पत्रकार और चुनौतियों का चोली-दामन का साथ है। पत्रकार को हर कदम पर चुनौतियों का सामना करना पड़ता है और जो इन चुनौतियों से लड़ते हुए आगे निकल जाता है वही समाज में चर्चा का विषय बन पाता है। लड़ाई के मैदान में जाकर समाचार जुटाना, बम धमाके वाली जगह से सूचना इकट्ठी करना, घने जंगलों में हिंसक पशुओं का सामना करते हुए किसी रोमांचक कहानी की तलाश करना अथवा प्रलयंकारी बाढ़, तीखी धूप, मूसलाधार बरसात को नजरअंदाज करते हुए अपने पाठक-दर्शकों तक समाचार पहुंचाना किसी चुनौती से निपटने से कम नहीं है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि समाचार संग्रह करने गए पत्रकार को अपनी जान तक गंवानी पड़ी। किसी के खिलाफ समाचार प्रकाशित-प्रसारित किए जाने के नाम पर पत्रकारों की मार-पिटाई करना अथवा उनकी हत्या तक कर देना पत्रकारिता के पेशे में बहुत बड़ी बात नहीं है। पत्रकार का काम समाचार संग्रह करना होता है। चाहे वह इलेक्ट्रॉनिक माध्यम के हों या फिर छपाई माध्यम के, पत्रकारों का पहला टार्गेट समाचार जुटाना होता है। समय रहते, जल्द से जल्द सबसे पहले अधिक से अधिक समाचार जुटाने के जुनून में पत्रकार कभी-कभी अपने सामने खड़े बड़े से बड़े खतरे को भी नजरअंदाज कर देता है, क्योंकि उसका मकसद अपने पाठक-दर्शकों तक सबसे पहले समाचार पहुंचाना होता है। जो पत्रकार ऐसा कर पाता है, वही आगे जाकर एक सफल पत्रकार कहलाता है।

समाचार संग्रह करना भले ही एक चुनौती हो, मगर इसमें एक अलग प्रकार का ही आनंद छिपा है। नि:संदेह जिम्मेदारी बहुत बड़ी है, क्योंकि समाचार के प्रकाशित-प्रसारित होने के बाद दर्शक-पाठक अपनी प्रतिक्रियाएं भी व्यक्त करते हैं। पत्रकार द्वारा जुटाई गई खबर का दायरा कितना विस्तृत है, वह भी उसकी कार्यशैली के माध्यम से ही सभी के सामने आता है। इस बात का जिक्र पहले ही कर चुका हूं कि हर एक पत्रकार अपनी जान की बाजी लगाकर समाचार जुटाने का काम करता है, मगर जहां तक इलेक्ट्रॉनिक पत्रकारों का सवाल है तो उन्हें अन्य की अपेक्षा अधिक जोखिम उठाना पड़ता है। अपने कंधों पर भारी-भरकम कैमरा लटकाए सुबह से देर रात तक समाचार संग्रह करना और उसे कैमरे में शुट करना कितना चुनौतीपूर्ण और मेहनत वाला कार्य है, इसकी एक आम दर्शक कल्पना भी नहीं कर सकता। चुनौतियों के इस दौर में कलम और कैमरे में कौन आगे है, इस पर लगातार चर्चाएं जारी हैं।

कब, कहां, क्या हो जाए, यह किसी को पता नहीं होता। इसलिए पत्रकारों को हमेशा सतर्क व सजग रहना पड़ता है। एक मिनट की देरी किसी पत्रकार को एक बड़ी खबर से वंचित कर सकती है। इलेक्ट्रॉनिक चैनल के पत्रकार यदि घटना को शूट करने में चूक जाएं तो वह खबर ही बेअसर हो जाती है। कहीं यदि बम धमाका हो जाए अथवा बड़ी दुर्घटना घट जाए तो पत्रकारों को जैसी स्थिति में हैं, उस स्थिति में घटनास्थल के लिए दौड़ना पड़ता है। घटनास्थल पर यदि कोई अस्वाभाविक स्थिति पैदा हो जाए तो उसको भी अपनी खबर में शामिल करना जरूरी होता है। धमाके वाले स्थान से एक ओर पड़े मृतक और घायल तथा दूसरी ओर उनके बीच खड़े होकर घटना की रिपोर्टिंग करना कितना मुश्किल काम है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब लोग अपनी जान बचाने के लिए इधर-उधर भाग रहे होते हैं, तब पत्रकार उस परिस्थिति को समझने-महसूस करने के लिए एक कोने में दर्शक बनकर खड़ा रहता है। ऐसी घटना का वर्णन करने के लिए टीवी पत्रकार को पूरी तरह अपनी कल्पना, सूचना, घटनाक्रम और अन्य जानकारियों पर निर्भरशील रहना पड़ता है, क्योंकि घटना से संबंधित उनके सामने न तो कोई स्क्रीप्ट होती है और न ही टेक, रिटेक का कोई मौका होता है। सीधे प्रसारण का मतलब ही पत्रकार और दर्शकों के बीच किसी प्रकार की रुकावट का न होना होता है। विस्फोट वाले स्थान से रिपोर्टिंग करने वाले पत्रकार को तो यह भी पता नहीं होता कि जहां पर खड़ा होकर वह रिपोर्टिंग कर रहा है, वहां कोई दूसरा बम तो छिपाकर नहीं रखा गया है। यदि वहां कोई विस्फोटक छिपाकर रखा गया है तो हो सकता है दो मिनट बाद वहां खड़े होकर

रिपोर्टिंग करने वाले पत्रकार के शरीर का कोई अंग ही न मिले। पत्रकार भी यह सब जानता है, फिर भी वह ऐसे चुनौतीपूर्ण, संकटमय स्थान पर खड़े होकर रिपोर्टिंग करता है।

आज के दिन टीवी पत्रकारों के सामने सबसे बड़ी चुनौती है असामाजिक तत्त्वों द्वारा किए जाने वाले हमले का खतरा। किसी के खिलाफ समाचार संग्रह करने के दौरान जान से मार डालने की धमकियां मिलना और कभी-कभी तो जान से ही हाथ धो बैठने के कई मामले सामने आ चुके हैं। आज के इस दौर में राजनेता, माफिया, पुलिस, बड़े उद्योगपति, व्यापारियों के खिलाफ समाचार संग्रह करना तो सबसे बड़ी चुनौती है। इसके बावजूद कलम और कैमरों के सिपाही निरंतर अपने काम में जुटे हैं। असम जैसे आकंतवाद प्रभावित राज्य में पत्रकारिता करना कभी भी आसान काम नहीं रहा। अब तक दर्जन भर लोग पत्रकार होने की कीमत के रूप में अपनी जानें गंवा चुके हैं। फिर भी असम के युवाओं में पत्रकारिता का नशा कम होने का नाम ही नहीं ले रहा है। मैं पहले ही कह चुका हूं पत्रकारिता का एक अलग ही जुनून है।

बच्चों पर अतिरिक्त दबाव : जिम्मेदार कौन

जब भी किसी विषय को लेकर विवाद पैदा होता है अथवा उस पर चर्चा होती है तो हमेशा हम उस विषय की जड़ में जाने के बजाय समाज व्यवस्था पर ही उसका सारा दोष मढ़ देते हैं। समाज व्यवस्था के लिए ऐसा हो गया, समाज व्यवस्था के लिए वैसा हो गया, जैसे तर्क देकर हम अपनी जिम्मेदारी को पूरी समझ लेते हैं। मुख्य विषय पर चर्चा न कर खुद को जिम्मेदारी से मुक्त कर लेना दरअसल पलायनवादी मानसिकता का ही परिचायक है। समाज व्यवस्था को कटघरे में खड़ा कर हमने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए कुछ ऐसे काम किए हैं, जिसने परोक्ष रूप से हमारे साथ-साथ समाज को भी भारी नुकसान पहुंचाया है। ऐसे कृत्यों पर हम चिंतन नहीं करते, जबकि वह अनजाने में ही सही हमारे द्वारा ही संपादित किए जा रहे हैं। ऐसा ही एक विषय है-बच्चों पर मानसिक दबाव। आधुनिकता का हवाला देकर अपने बच्चों को आगे ले जाने की प्रतियोगिता में हम जितना दौड़ते हैं, बच्चों पर उतना ही मानसिक दबाव डालते हैं।

हर मां-बाप चाहते हैं कि उसका बच्चा सबसे आगे, सबसे अव्वल रहे। बच्चे जितने सफल होते हैं, समाज में मां-बाप का उतना ही मान-सम्मान बढ़ता है। ऐसा होना स्वभाविक भी है। बच्चों की कामयाबी पर मां-बाप को जितने आनंद व सुख की प्राप्ति होती है, उतना सुख अन्य किसी में हासिल नहीं होता। मगर प्रतियोगिता की दौड़ में हमने स्वयं को इतना व्यस्त कर लिया है कि दो जून खाने तक की फुर्सत नहीं है। सुबह बिस्तर से उठते ही हम अपने बच्चों पर बिना जरूरत का ही बोझ लाद देते हैं। पीठ पर पुस्तक-कॉपियों का बोझ लादकर हम अपने बच्चे को कुछ इस तरह से स्कूल भेजते हैं, मानो उसे किसी रणक्षेत्र में भेज रहे हैं। कक्षा में अव्वल आने, परीक्षा में बेहतर नतीजे लाने जैसी भावनाओं के साथ जब हम अपने बच्चों पर शासन करते हैं तो अपने-आप बच्चों पर मानसिक दबाव पैदा होता है। आस-पड़ोस के बच्चों की सफलता देख अभिभावक चाहते हैं कि उनके बच्चे भी कुछ उसी तरह की कामयाबी हासिल करें ताकि वे भी समाज में सर उठाकर चल सकें। दरअसल ऐसी मानसिकता वाले अभिभावकों के बच्चों के राह भटक कर गलत मार्ग पर चले जाने की संभावना अधिक रहती है। क्योंकि किसी भी प्रतियोगिता में पहला स्थान हासिल करने की नीयत से उतरने से पहले उसके मन से ईर्ष्या की भावना दूर होनी होगी। कैरियर बनाने के सपने को हकीकत में बदलने के लिए एक स्वस्थ मानसिकता का अधिकारी होना बेहद जरूरी है। मन में ईर्ष्या हो तो किसी भी प्रतियोगिता में सफलता हासिल नहीं होती। अभिवावकों को चाहिए कि वे सबसे पहले अपने घर में एक स्वस्थ माहौल का सृजन करें, तब देखेंगे बच्चे अपने आप ही सही मार्ग पर चल निकले हैं। हम सभी मामलों में समाज को जिम्मेदार ठहराएं, ऐसा नहीं होना चाहिए। पहले आत्मशुद्धि, बाद में ही हमें समाज के माहौल को ठीक करने के लिए घर से बाहर निकलना चाहिए।

समाज ने आपको क्या दिया, यह सोचने से बेहतर है हम यह सोचें कि हमसे समाज को क्या मिला। व्यक्तियों के समूह से ही समाज बनता है। इसीलिए एक स्वस्थ समाज का गठन करने के लिए हमें अपने बच्चों को सच्चे मार्ग पर चलना सिखाना ही होगा। लोग जब सामाजिक माहौल को दोषपूर्ण बताते हुए अपने बच्चों को अलग-थलग कर घर के अंदर ही उनके व्यक्तित्व निर्माण की कोशिशें करते हैं, तभी दो पीढ़ियों के बीच का विवाद शुरू होता है। बाप-बेटे के बीच विवाद, मां-बेटी का परस्पर विरोधी कथन। बच्चे के परीक्षा में बेहतर प्रदर्शन करने पर समाज में मां-बाप की इज्जत बढ़ती है, उन्हें अगली पांत में बैठने का सम्मान हासिल होता है। मगर

इतने में ही उनका कर्त्तव्य खत्म नहीं हो जाता। उन्हें समाज के प्रति जिम्मेदारियों का स्मरण कराए जाने की निश्चय ही जरूरत नहीं है। अपने बच्चों के साथ-साथ दूसरों के बच्चे भी ऐसा माहौल हासिल कर सकें, उस दिशा में भी यदि कोई एक ही तरीके से सोचे तो समाज में समानता की भावना का सृजन हो सकता है। तभी हर एक अभिभावक यह उपलब्धि हासिल कर पाएंगे कि बच्चों के दिलो-दिमाग पर दबाव डाले बिना भी सामाजिक माहौल स्वस्थ व मजबूत हो सकता है।

आधुनिकता के नाम पर भी बहुत से अभिभावक अपने बच्चों पर मानसिक जुल्म ढाते हैं। बच्चों पर दबाव डालने के बजाए उन्हें बदलते वक्त के साथ कदम बढ़ाना सिखाना होगा। प्रतियोगिता का अर्थ ध्वंसमुखी गति नहीं होती है। बच्चों को सकारात्मक सोच के साथ प्रतियोगिता में शामिल होने और आगे बढ़ने की सीख देनी होगी। तभी बच्चे जिंदगी की लड़ाई में विजय पताका फहराने में सफल हो पाएंगे। खुले मन से कोई भी काम करने से जैसी सफलता मिलती है, वैसे ही सफलता सब समय दबाव में रहने से हासिल नहीं होती।

बिहू गीत और कुछ प्रासंगिक चिंताएं

रंगाली अर्थात् बोहागी बिहू के बिना असमिया संस्कृति अधूरी है। असमिया सामाजिक जीवन के साथ रंगाली बिहू ओत-प्रोत ढंग से जुड़ी हुई है। यह भी सच है कि बिहू गीत के बिना बिहू नृत्य संपूर्ण नहीं होता। बिहू और बिहू गीत के एकाकार होने से प्रकृति जीवंत हो उठती है। असमिया युवक-युवतियों की खुशी देख प्रकृति की देवी भी चंचला हो जाती है। बैसाख के महीने में आने वाला तूफान जो तांडव फैलाता है, वह तांडव भी बिहू के उत्साह-आनंद को कम नहीं कर पाता। बिहू गीत के स्वर-सुर से प्रकृति उर्वरा हो उठती है। अतीतकाल से परंपरागत ढंग से गाए जाने वाले बिहू गीत अब नई पीढ़ी के हाथों विकृत होते जा रहे हैं। बाजार में बिकने वाले कैसेट आदि में जो बिहू गीत प्रस्तुत किए जाते हैं, उन्हें सुनकर बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि परंपरागत बिहू गीतों के साथ इन गीतों की कोई तुलना ही नहीं होती। इन गीतों में आकाश-पाताल का फर्क नजर आता है। आज के दौर के बिहू गीत सुनने पर यह निर्णय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि वे बिहू गीत हैं अथवा आधुनिक असमिया गीत। सिर्फ व्यवसाय, बाजार और फायदे को ध्यान में रखकर ही ऐसे कैसेटों को बाजार में उतारा जाता है। कैसेट निकालने वाले इसका व्यापारिक फायदा देखेंगे ही, यह स्वाभाविक भी है। मगर व्यापार के नाम पर बिहू गीतों को विकृत करने की दलील को किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। परंपराओं को विकृत करने का हक किसी को भी नहीं है। जब पूरे विश्व भर

में ऐतिहासिक संपदा, संस्कृति को संरक्षित किए जाने पर विशेष रूप से ध्यान दिया जा रहा है, उस समय हम खामोशी के साथ बिहू गीतों को विकृत होते देख रहे हैं। पड़ोस में लगी आग हमारे घर तक पहुंच गई है, फिर भी हम चुप्पी साधे बैठे हैं। कभी-कभार जो विरोध होता है अथवा किया जाता है, उसे भी नाकाफी ही कहा जाएगा।

परिर्वतन समय की पुकार है। परिर्वतन को स्वीकार करना ही होगा, मगर परिर्वतन का अर्थ परंपराओं को विसर्जित करना नहीं है। यदि हम परंपराओं को ही त्याग दें तो हमारा अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा। इसीलिए परिर्वतन के नाम पर कोई बिहू गीतों के स्वरों को विकृत न करे, इस मुद्दे पर चर्चा होनी चाहिए। यह भी नहीं हो सकता कि हम परिवर्तन के नाम पर पश्चिमी संस्कृति को ही अपना लें। प्रसंगवश, यहां यह भी उल्लेख करना चाहूंगा कि एक देश की संस्कृति का अन्य देश की संस्कृति के साथ आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है। मगर ऐसे आदान-प्रदान के दौरान संस्कृति की मूल भावना का परिवर्तन नहीं हो सकता। आज हम इंग्लैंड, अमरीका, स्वीडन, नॉर्वे आदि देशों में जाकर असम की संस्कृति की पहचान बिहू गीत-नृत्य का प्रदर्शन करते हैं। यदि हम इन देशों में जाकर आज के दिन असम के बाजार में प्रचलित सीडी-कैसेट में रिकार्डिंग किए गए बिहू गीतों अथवा नृत्यों का प्रदर्शन करें तो क्या उन देशों के कला, संस्कृति प्रिय लोग असम के बिहू गीत अथवा नृत्य की असली खुशबू पा सकेंगे? सच बात तो यह है कि असम के बाजार में उपलब्ध बिहू गीत-नृत्य की सीडी के आधार पर बिहू गीत-नृत्य का प्रदर्शन करने पर हमें विदेशों में लज्जित ही होना होगा। फुल शर्ट-पेंट, मिनी स्कर्ट पहनकर बिहू नृत्य में हिस्सा लेने वाले कलाकारों की नृत्य-भंगिमाओं को देखकर ऐसा लगता है, जैसे उन्हें बिहू के बारे में न्यूनतम जानकारी तक नहीं है। बाजार में उपलब्ध बिहू गीत-नृत्य की सीडी आदि को देखकर लगता है, जैसे सीडी बनाने-निकालने वालों को मालूम ही नहीं है कि बिहू नृत्य-गीत है क्या ? व्यापार के नाम पर एक जाति की पहचान को विकृत करने का अधिकार आखिरकार इन्हें कहां से मिला, किसने दिया? बिहू गीत-नृत्य की सीडी निकालने को लेकर किसी को भी आपत्ति नहीं है। साल में एक नहीं हजारों सीडियां निकालें तो भी कोई बात नहीं, मगर बिहू के नाम पर इसके विकृत किए जाने की घटना को किसी भी हालत में बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। जरूरत पड़े तो लोग ऐसी एक भी सीडी न खरीदें, इससे न तो बिहू को कोई फर्क पड़ेगा और न ही असमिया संस्कृति प्रभावित होगी।

बिहू गीत-नृत्य में उत्तेजक बोल अथवा भाव-भंगिमाओं का जिस तरह से बोलबाला होता जा रहा है, वह भी बिहू को विकृत करने में एक मुख्य भूमिका निभा रही है। पहले हमारे बिहू गीत-नृत्य में यौवन को जो जगह दी जाती थी, उसका सीधा संबंध प्रकृति से हुआ करता था। यौवन मानव जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसीलिए वसंत उत्सव में गीत-नृत्य को शुरू से ही एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। युवक-युवतियों के यौवन का बिहू गीत-नृत्य में ही जिक्र आता है। मगर आज के दिन बिहू गीत-नृत्य में इसने विकृत रूप धारण कर लिया है। बाजार में बिकने वाली सीडी में बिहू नृत्य को देखकर एक बार तो ऐसा ही लगता है, मानो बिहू नृत्य का सृजन सिर्फ यौवन-प्रदर्शन के लिए ही किया गया है।

आजकल बाजार में एंग्लो असमिया बिहू गीत की सीडी की भरमार है। कई बिहू गीतों में उपयोग किए गए अंग्रेजी शब्दों में सुनकर एक बार तो ऐसा लगता है जैसे वह असमिया सीख रहे किसी विदेशी व्यक्ति की रचना है। यदि कोई विदेशी व्यक्ति इस प्रकार के बिहू गीतों की रचना करता तो शायद हमें कोई शिकायत नहीं होती, मगर जिन्होंने ऐसे बिहू गीत लिखे हैं वे खालिश असमिया हैं। अपने को संपूर्ण असमिया कहने वाले यदि इस प्रकार के अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग कर बिहू गीतों की रचना करने लगें तो इससे अधिक हास्यास्पद बात और क्या होगी। हमें ऐसे बिहू गीत सुनने से इनकार करना होगा। किसी गीतकार को आधुनिक गीतों में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करते देख कोई यदि बिहू गीतों में इस प्रकार का प्रयोग करे तो हमें ऐसे प्रयोग को रोकना होगा। बिहू गीत लिखने वालों को यह बात याद रखनी चाहिए कि ऐसे गीतों की रचना करते वक्त हमारे परंपरागत शब्दों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाए। अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग कर लिखा गया कोई गीत सभी के लिए स्वीकार्य नहीं भी हो सकता है। असमिया जिसको लेकर गौरव का अनुभव करते हैं, उसमें बिहू का स्थान सर्वोपरि है। लिहाजा हम सभी को बिहू का आदर-सम्मान करना ही होगा।

चुंबकीय आकर्षणवाले एक कवि की बातें

एक कवि। ठीक कवि कहना गलत होगा। आदमी के मन के भावों को समझने वाला एक व्यक्ति। इस व्यक्ति की कलम से झरते थे शब्द। आदमी को चाहने वाले शब्द। प्रकृति की बातें, प्रेम, चाहत की बातें और न जाने कितनी बातें। वह कवि आज हम लोगों के बीच से चला गया हमेशा के लिए- अनजाने मुल्क की ओर। हम लोगों को हमेशा के लिए रूलाकर जाने वाले वह महान कवि थे हीरेन भट्टाचार्य, जिसे सभी प्यार से हीरू दा कहकर पुकारते थे।

हर व्यक्ति का अलग एक व्यक्तित्व होता है। ऐसा होना स्वाभाविक है। समाज हर एक को समान रूप से नहीं चाहता। लेकिन उनमें से भी कुछ भी लोग ऐसे होते हैं जिन्हें सभी चाहते हैं। स्नेह करते हैं। श्रद्धा प्रकट करते हैं। संकट के मित्र। दूसरा कोई 'कुशल हूं' वैसी बातों पर ध्यान नहीं देते। दूसरों की कुशलता की बात कहने के बदले दूसरों का काम कर जो खुश रहते हैं वैसे आदमी थे हीरू दा। असम के कोने-कोने में उन्हें चाहने वाले लोगों की संख्या अनगिनत है। उनकी कविताएं पढ़कर ही चाहते हों वैसी बात नहीं, उनके व्यक्तित्व के प्रति भी लोग समान रूप से आकर्षित होते हैं। नहीं था उनकी बातों और काम के बीच फर्क। जो कहते थे वही करते थे। जो करेंगे उसे रोकने वाला कोई नहीं था। कारण समाज के दस आदमियों की भलाई के लिए ही उनके कदम उठते थे। क्या कविता लिखने से ही कोई कवि हो सकता है? रोजाना कई लोग कविता लिखते हैं। छपती भी हैं। लेकिन वैसी कविताओं में समाज का चित्र, प्रकृति का चित्र, लोगों का दुख-दर्द प्रतिफलित होने में कहीं न कहीं कोई कमी रह जाती है। ऐसी तस्वीर जिनकी कविताओं में स्पष्ट होती है वे ही लोग पाठकों के मन में स्थान बना पाते हैं। ऐसे लोग हमेशा कविता नहीं लिखते। जब मन होता है

तभी कविता लिखते हैं। इसके लिए उन्हें उपयुक्त वातावरण की जरूरत होती है। लेकिन हीरू दा ने आज तक जितनी कविताएं लिखी हैं उन सभी कविताओं को पाठकों ने पसंद किया है। 'तुम तो जानते ही हो, इस कवि के पास एक ही कमीज है, वो भी फटी चिथड़ी', 'जीवन एक पत्थर पर उकेरा गया भास्कर्य है'- ऐसी कविताओं के अंश आज लोगों की जुबान पर हैं।

सहज-सरल हीरू दा समाज के हर स्तर के लोगों के बीच प्रिय थे। वे कविताएं जीवंत रूप ले लेती हैं जब गीतों में रूपांतर हो जाती हैं। जुबिन से लेकर नई पीढ़ी के कई गायकों ने हीरू दा की कविताओं को स्वर दिया है। शब्द चयन, भाषा लालित्य, बिंब आदि हीरू दा की कविताओं की प्रमुख विशिष्टता है। शब्द, शब्द नहीं थे मानो एक-एक तीर थे, जिससे लोगों के दिल छलनी हो जाते थे। कहते हैं कवि ज्यादा भावुक होते हैं। जहां भावुकता नहीं होती वहां कविता को जीवंत रूप नहीं मिलता। लेकिन भावुकता से ज्यादा उन्होंने समय की गति को ज्यादा महत्त्व दिया था। इसीलिए शायद हीरू दा की कविताएं हरी-भरी, जमीनी आदमी, मिट्टी की महकवाली कविता थी। यही था हीरू दा के जीवन चक्र का अपवाद चरित्र। उनसे एक बार मिलने वाले व्यक्ति के लिए उन्हें भूल पाना कठिन था। कारण एक बार उनसे बातें करने वाला उन्हें कभी नहीं भूल सकता। सरल अर्थों में कहा जाए तो उनमें था एक चुंबकीय गुण। इस चुंबकीय क्षेत्र में जो आ जाता वह वैसे ही गुणों का अधिकारी बन जाता था। लेकिन अब कभी भी हीरू दा हमारे बीच वापस लौटकर नहीं आएंगे।

हीरू दा। तुम हमें छोड़कर चले गए। लेकिन अपनी कविताओं से तुम हमारे बीच हमेशा जीवित रहोगे। कोई भी नहीं मिटा पाएगा तुम्हारी स्मृति। ओस से भींगी शाम, रातरानी की महक में तुम्हारी याद हम सभी को बेचैन करती रहेगी। स्निग्ध चांदनी में कोई गाएगा- 'गाने की आने सुरोर सोपाने-सोपाने।' एकांत संध्या में किसी वंशीवादक के सुर में बज उठेंगे, हीरू दा की कविताओं के शब्द। हीरू दा हम लोगों के बीच सिर्फ एक जनप्रिय कवि के रूप में ही जीवित नहीं रहेंगे-रहेंगे एक सहज सरल जमीनी व्यक्ति के रूप में भी। तुम अमर रहो- यही हमारी कामना है।

अपने आप में एक संस्थान थे डॉ. भूपेन हजारिका

डॉ. भूपेन हजारिका अपने आप में एक संस्थान थे, जिनकी पूरे विश्व भर में एक खास पहचान थी। असमिया जाति को विश्व पटल पर प्रतिष्ठित करने वालों में भूपेन दा का नाम सबसे पहले आता है। इस बेजोड़ कलाकार के संपर्क में आने के लिए विश्व के सभी लोगों में एक अधीरता के दर्शन होते थे। डॉ. हजारिका को एकदम निकट से जानने वाले जिस तरह उनको समझ पाते थे, उससे कम नहीं जान पाए थे उनको उनके श्रोतागण। इस विश्व विख्यात कलाकार के मुंह से निकला हर एक शब्द मानो एक इंद्रजाल था। इस इंद्रजाल की सम्मोहिनी शक्ति से मंत्रमुग्ध हैं किसी सर्प की तरह श्रोतागण भी।

डॉ. हजारिका के गीत हों अथवा बातें या फिर कविता पाठ ही क्यों न हो, इन सभी के बीच हर एक व्यक्ति को जीवन के किसी न किसी पहलू का पता मिलता था। उनकी सृजनता में जिंदगी का कौन-सा पहलू प्रस्फुटित नहीं हुआ। पहले ही कह चुका हूं कि वे एक व्यक्ति नहीं एक संस्थान थे। इस संस्थान का दायरा महासगर जैसा और गहराई प्रशांत महासागर जैसी थी। यायावर भूपेन हजारिका के लिए पूरी दुनिया ही अपना घर सरीखे था। उनका पता किससे पूछें ? सभी के दिलों में जिनका पता स्थायी था, उनको भला पते की क्या जरूरत। ज्योति में विलीन है इस कलाकार का पता। आकाश-हवा भी बताते हैं इनका पता।

एक कलाकार तब महान होता है, जब उसके आधार को समाज स्वीकार करता है। समाज के हर एक तबके में उनका अस्तित्व मिलता है। सभी कलाकार महान नहीं

हो सकते। विश्व भावना का सृजन करने वाला ही इस विरल सम्मान का उत्तराधिकारी हो सकता है। उन्होंने बीसवीं सदी में रहकर भी 21वीं सदी का दृश्यपटल अंकित किया था। पल रोपशन से साक्षात्कार करने के बाद उन्होंने जिस तरह जीवन के दृश्यपट में बदलाव किया था, उसी तरह के लोगों के दिलों में भी प्रवेश कर चुके थे। बिना जनसंपर्क के एक कलाकार विश्व विख्यात नहीं हो सकता, इस बात को उन्होंने भी महसूस किया था। समय अपनी गति से दौड़ रहा था, कारण जो समय की गति के साथ कदम मिलाकर आगे नहीं बढ़ पाता उसकी सृजनता एक तय दायरे में कैद होकर रह जाती है। समय के साथ कदम मिलाते वक्त वे कई बार गिरे थे, जख्मी भी हुए थे। मगर ये जख्म उनके गतिमार्ग को स्तब्ध नहीं कर पाए। लक्ष्य था अर्जुन की तरह और प्रतिभा भीष्म और बांटने में तो वे मानो दाता कर्ण ही थे। जीवन का सब कुछ विश्ववासियों में बांटकर खुशी का अनुभव करने वाले भूपेन हजारिका ने कभी महलों की खुशियों की कामना नहीं की। वे दुर्गम क्षेत्र पार कर भी अपने श्रोताओं के बीच जा खड़े होते थे।

ऐसे एक महान कलाकार का सान्निध्य हासिल करने का सौभाग्य कई बार मिला था। इस महान कलाकार के जीवन को लेकर बहुत सृजनता हो चुकी है। वर्ष 2009 में नाट्यकार अभिजीत भट्टाचार्य ने डॉ. हजारिका पर आधारित 'भूल नूबुजिबा भूपेन दा' नाटक की रचना की थी। आवाहन थिएटर के संचालन के एक सदस्य के तौर पर मैंने उनसे नाटक देखने का अनुरोध किया था। बोरागांव में पिछले वर्ष नाटक देखने के लिए आने पर उनसे अंतिम बार के लिए मुलाकात हुई थी। नाटक देखने के बाद उन्होंने कहा था- अपूर्व, मंच पर उन पर आधारित एक जीवंत छवि प्रस्फुटित हुई है। उनकी बातों ने हमें प्रोत्साहित किया था। हमारे परिवार के साथ भी भूपेन दा के मधुर संबंध थे। पाठशाला के घर में कई बार आए थे। पाठशाला की ओर आने से वे मेरे स्वर्गीय पिता वासुदेव जालान से जरूर मिलते थे। हमारे घर में उनके आगमन से जुड़े क्षण सदैव सजीव रहेंगे। कभी-कभार मुझसे मिलने पर पूछते थे- कि हे गोपाल कितापखोन उलाल ने ? हां, उनकी जीवन यात्रा को समेट कर एक पुस्तक प्रकाशित करने की बड़ी अभिलाषा थी। पांच वर्ष पहले एक किताब का संकलन भी किया था-'विश्व नागरिक भूपेन हजारिका' । उनके निजरापार आने पर एक दिन किताब उनको दे आया था। उनकी खुशी देख मैं अभिभूत हो उठा था। मारे खुशी के दोनों आंखों से बह निकली थीं दो अश्रुधाराएं। वह थे खुशी के आंसू, मगर आज उनकी मृत्यु से गम के आंसू बह रहे हैं।

निर्मल हंसी वाली महिला

असमिया भाषा की जिन पुस्तकों का अन्य भाषाओं में अनुवाद किया गया है, वैसी पुस्तकों में मामोनी रायसम गोस्वामी द्वारा असमिया में लिखी गई पुस्तकों का सबसे अधिक अनुवाद किया गया है। उन्होंने ज्ञानपीठ पुरस्कार से लेकर फारसी साहित्य के उल्लेखनीय पुरस्कार तक प्राप्त किए, मगर कभी भी उनमें घमंड अथवा अहंकार की भावना देखने को नहीं मिली। 'मामरे धरा तलवार', 'दंताल हाथिर उइए खोवा हाउदा', 'आधा लिखा दस्तावेज' क्या नहीं लिखा था उन्होंने। लगता है जैसे महान रचनाएं लिखने के लिए ही उन्होंने जन्म लिया था। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, मगर हर क्षण हमें महसूस होता है जैसे वे हमारे बीच ही हैं। मामोनी बाईदेउ प्रशांत महासागर जैसे विराट हृदय की अधिकारिणी थीं। उनके महासागर जैसे विशाल हृदय के दरवाजे सभी के लिए खुले हुए थे। उनके दिल-दुनिया में हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिख सभी का स्वागत था। जीवन-संग्राम में मिले दुख-दर्द, घात-प्रतिघात को किनारे कर हंसते हुए सभी को गले लगाने वाला उनका गुण हमेशा के लिए हमारे मानस-पटल पर अंकित रहेगा। अतिथियों का स्वागत-सत्कार करना मामोनी बाईदेउ का शौक था। जब तक अपने अतिथि को वे अपने हाथों की बनी चाय नहीं पिला देती थीं, तब तक उन्हें चैन नहीं मिलता था। उनके घर के दरवाजे अमीर-गरीब सभी के लिए हमेशा खुले रहते थे। सभी को बिना रोक टोक उनके घर में प्रवेश करने की इजाजत थी। वैसे तो सभी के जीवन में सुख-दुख का आना-जाना लगा रहा है, मगर

मामोनी बाईदेउ को जितना गहरा आघात लगा था, दूसरा कोई होता तो हो सकता है वैसे आघात के बाद आत्महत्या ही कर लेता। मगर बाईदेउ ने ऐसे हालात को एक चुनौती के तौर पर स्वीकार किया था। ऐसी चुनौतियों का ही नतीजा है कि जिनसे लड़ते हुए उन्होंने कई कालजयी पुस्तकें लिख डालीं। मन में रह-रहकर उठने वाली भावनाओं की लहरें ज्वारभाटा उत्पन्न करने के बावजूद कभी भी उनके मन के किनारों को नहीं तोड़ पाई थीं। सभी को सहजता के साथ स्वीकार करने का गुण उसमें ही हो सकता है, जिसके मन में छल-कपट और ईर्ष्या न हो। कोई भी मदद मांगने उनके पास गया, खाली हाथ लौटकर नहीं आया, क्योंकि उनके प्यार-स्नेह से कोई भी वंचित नहीं था। यही वजह थी कि उनके निधन का समाचार सुनते ही सभी लोग बिलख पड़े थे। अपनी रचनाओं की सुगंध बिखेरने में लगी इस महिला की मौत से शोकाकुल लोग यह विश्वास करने को तैयार नहीं थे कि उनकी आदरणीय मामोनी बाईदेउ हमेशा-हमेशा के लिए यह संसार छोड़कर चली गई हैं। २९ नवंबर की सुबह चिकित्सकों ने भले ही वैध दृष्टिकोण से मामोनी रायसम गोस्वामी बाईदेउ को मृत घोषित किया हो, मगर कुछ लोग यह भी मानते हैं कि लंबे समय तक कोमा में रहने के दौरान ही उनकी मृत्यु हो चुकी थी। इंतजार बस उनकी मृत्यु की औपचारिक घोषणा भर का था। भले ही उन्हें शारीरिक तौर पर मृत घोषित करने में देर की जा रही थी, मगर उनका मस्तिष्क कभी का मर चुका था। यही कारण था कि अंतिम समय में लाखों प्रशंसकों के पास रहने के बावजूद वे इनकी उपस्थिति को महसूस नहीं कर पाईं।

दिल्ली में रहने के दौरान असम से वहां जाने वाले लोगों के साथ वे हमेशा संपर्क में रहा करती थीं, बातचीत किया करती थीं। यही वजह थी उनसे पहली बार मिलने वालों को भी लगता था, जैसे मामोनी बाईदेउ के साथ उनकी पहचान वर्षों पुरानी है। ऐसा था हमारी मामोनी बाईदेउ का स्वभाव।

ज्ञान उत्सव मेला
डॉ. भूपेन हजारिका का संग्रहालय

हमारे समाज में ऐसे बहुत से लोग हैं, जो खामोशी के साथ अपने सृजन कर्म में लगे रहते हैं। ऐसे लोगों के लिए सृजन कार्य ही महत्त्वपूर्ण होता है। इनमें आमतौर पर प्रचार की भूख देखने को नहीं मिलती। यह चाहते भी नहीं कि उनके कार्यों का अधिक प्रचार-प्रसार किया जाए। मगर ऐसे लोगों के व्यक्तित्व और काम-काज का यदि समुचित ढंग से प्रसार-प्रसार नहीं किया गया तो हमारी बहुत-सी ऐतिहासिक संपदा अथवा कलाकृतियां हमेशा के लिए समाप्त हो जाएंगी। इस बात का अहसास मुझे तब हुआ जब तिनसुकिया जिले में आयोजित ज्ञान उत्सव मेले में जाने का मौका मिला। इस मेले में शिरकत करते हुए मुझे एक अलग ही प्रकार की अनुभूति हुई, क्योंकि इस मेले में अन्य संस्थान-प्रतिष्ठान, दुकानों के अलावा डॉ. भूपेन हजारिका की अमर कृतियां सभी के आकर्षण का केंद्र बनी हुई थीं। यहां सुधाकंठ के गीत लगातार बजाए जा रहे थे। मेला परिसर में एक के बाद एक सिर्फ भूपेन संगीत ही सुनाई दे रहा था। इन पुराने गीतों के रिकार्ड उमानंद दुवरा ने संग्रह किए हैं। जिला प्रशासन, कई छात्र संगठन और तिनसुकिया जिला विकास प्राधिकरण के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित इस पांच दिवसीय मेले में लगाए गए उमानंद के संग्रहालय

में क्या नहीं था। वर्ष १९२४ में वाणीबद्ध पहले असमिया गीत के ग्रामोफोन से लेकर अंतिम कैसेट तक को उन्होंने बड़े जतन से सहेजकर रखा था।

उमानंद ने भूपेन दा के रिकार्ड संग्रह कर मोरानहाट के शांतिपुर में एक ग्रामोफोन रिकार्ड संग्रहालय की स्थापना की है। वर्ष १९९३ से वर्ष २००३ तक का समय उन्होंने सिर्फ सुधाकंठ के गाए गीतों के रिकार्ड खंगालने व संरक्षित करने के काम में ही खर्च कर डाला। उनके यहां हर एक एलबम को संरक्षित कर रखा गया है। इसके अलावा रूपकुंवर ज्योतिप्रसाद अग्रवाला की आवाज में नाटक के संवाद, कलागुरु विष्णु राभा के गाए गीत और नाट्यसूर्य फणि शर्मा के नाटक के संवाद आदि का भी उनके पास खासा संग्रह है।

ज्ञान उत्सव मेले में भूपेन दा के लगातार बजते गीतों की वजह से एक अलग तरह की ही अनुभूति हुई। तिनसुकिया जैसी जगह में इस प्रकार के मेले का आयोजन नि:संदेह एक प्रशंसनीय कदम है। डॉ. भूपेन हजारिका और मामोनी रायसम गोस्वामी की स्मृति में निर्मित तोरणद्वार से मंच तक सब कुछ खास था। तिनसुकिया जैसे स्थान पर डॉ. भूपेन हजारिका के गीतों को एक अकेले व्यक्ति ने संग्रह किया है, यह अपने आप में बहुत बड़ी बात है। उमानंद ने वर्ष २००३ में भी गुवाहाटी के श्रीमंत शंकरदेव कलाक्षेत्र में अपनी संग्रहित वस्तुओं का प्रदर्शन किया था, मगर ज्ञान उत्सव मेले में ही लोगों का ध्यान उन पर गया। इस मेले में शिरकत कर आने के बाद से ही एक बात मेरे मन को कचोटती है कि इस प्रकार के मेले का आयोजन गुवाहाटी में क्यों नहीं किया जा सकता। गुवाहाटी में पुस्तक मेले से लेकर अंतर्राष्ट्रीय मेलों तक का आयोजन होता रहता है, यह एक अच्छी बात है। मगर हमने ज्ञान उत्सव मेले जैसे किसी कार्यक्रम के आयोजन के बारे में अभी सोचा तक नहीं है। गुवाहाटी सहित अन्य हिस्सों में इस प्रकार के मेलों का आयोजन कर हम उमानंद दुवरा सरीखे लोगों को उनके संग्रह कार्य को जारी रखने के लिए प्रोत्साहित कर सकते हैं। क्या बुरा है यदि इस सिलसिले को तिनसुकिया के ज्ञान उत्सव मेले से ही शुरू किया जाए।

कलाकार पेंशन से वंचित ढोलक सम्राट करुणाकांत दास

भले ही वह वाद्य यंत्र किसी के लिए एक ढोलक मात्र हो, मगर नलबाड़ी जिले के गोबरादल के ढोलक वादक करुणाकांत दास के लिए उनके जीवन-संग्राम में यह एक सारथी की तरह उनका साथ निभा रहा है। अपने परिवार के भरण-पोषण और दैनिक जरूरतों को पूरा करने के लिए महंगाई से जंग लड़ रहे करुणाकांत ने अभी भी वक्त के आगे हार नहीं मानी है, क्योंकि ढोलक उनके लिए जीविका उपार्जन का नहीं, सृजनता का एक जरिया है। इसीलिए जीवन की संध्या बेला में भी वे ढोलक को अपने सीने से चिपकाए फिरते हैं। श्री दास को कामरूपिया ढोलक कला का सम्राट कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

अपने जीवन के 83 से अधिक बसंत पार कर चुके श्री दास आज भी चुपचाप अपनी वादन साधना में लगे हुए हैं। सृजन करने की चाहत में अपने गले में ढोलक लटकाए जब वे अपने हथेलियों की थाप उस पर मारते हैं तो सुनने वालों के कान भी तृप्त हो जाते हैं। अपने ढोलक वादन से एक समय पूरे राज्य में अपनी एक खास पहचान कायम करने वाले करुणाकांत दास आज शारीरिक रूप से भले ही कमजोर हो गए हों, मगर अपने दिल में छिपी अदम्य इच्छा को वे आज भी दबा नहीं पाए हैं।

एक साथ पांच-पांच ढोलक अपने गले में लटकाकर कार्यक्रम में हिस्सा लेने वाले इस कलाकार को निचले असम के लोग बहुत अच्छी तरह से पहचानते हैं। 'गोबरादल मिलन ढुलिया दल' का नेतृत्व करने वाले इस कलाकार को उसके चाहने वाले ढोलक का ओझा भी कहते हैं। यह महान कलाकार आज भी अपने दल के साथ कामरूपिया ढुलिया संस्कृति की विरासत को वहन किए हुए है।

इस ढोलक वादक दल के पास एक ऐसा ढोलक भी है, जो वर्ष 1737 में बनाया गया था। इस बारे में श्री दास ने बताया कि यह हमारे पूर्वजों का ढोलक है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम इसको बजाते आ रहे हैं। हमारे लिए यही ढोलक सृजन का प्रमुख माध्यम है। इसी से हमारी कल्पना, हमारे सपने परवान चढ़ते हैं।

सदैव प्रचार माध्यमों से दूर रहने वाले इस कलाकार को पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने गणतंत्र दिवस समारोह में अशोक चक्र प्रदान किया था। उक्त गणतंत्र दिवस समारोह में गोबरादल के ढोलक वादकों के दल को आमंत्रित किया गया था, जिसका नेतृत्व श्री दास ने किया था। श्री दास के ढोलक वादन से खुश होकर स्वयं श्री वाजपेयी ने उनकी कला की प्रशंसा की थी।

हाल ही में शिल्पी सहायता निधि और प्रयास नामक गैर सरकारी समाजसेवी संगठन के पदाधिकारियों ने उनके घर जाकर राज्य के इस महान कलाकार को फुलाम गामोछा से सम्मानित करने के साथ ही 25 हजार रुपए की आर्थिक सहायता प्रदान की।

अभी तक शिल्पी पेंशन अथवा अन्य किसी प्रकार की सरकारी सहायता से वंचित श्री दास ने इस मौके पर बिना किसी के खिलाफ आक्रोश प्रकट किए कहा कि 'कलाकार लोगों से मिलने वाले प्यार-सम्मान के दम पर जीते हैं, न कि धन-दौलत के दम पर।' सिर्फ ढोलक बजाकर अपने सात सदस्यीय परिवार का पेट पाल रहे इस कलाकार ने कई बार मदद के लिए सरकार से आवेदन-निवेदन किया, मगर राज्य सरकार ने कभी भी इस गरीब कलाकार की सुध तक नहीं ली।

कहां खो गई मानवता!

सुबह उठकर समाचारपत्र के पन्नों पर नजर फिराते ही मानवता के गिरते मूल्यों का अहसास होता है। लगता है आज के इंसान में मूल्यबोध की भावना ही खत्म हो गई है। बच्चे अपने मां-बाप को घर से निकाल देते हैं, बेटा अपनी बूढ़ी मां को भीख मांगने के लिए सड़क पर छोड़ जाता है। बेटे अथवा पोते-पोतियां अपनी बूढ़ी मां-दादी को मध्य रात्रि में घर से दूर अकेले सड़क पर छोड़ते वक्त एक बार भी उस असहाय बूढ़ी के बारे में नहीं सोचते। भाई-भाई को मार रहा है। बेटे के हाथों पिता की जान जा रही है, पिता बेटे का हत्यारा बना बैठा है। अस्सी वर्ष के बूढ़े के दुष्कर्म का शिकार हो रही पोती की उम्र की एक लड़की। इस प्रकार की घटनाएं रोज दिन-रात हमारे आसपास घट रही हैं। टीवी का स्विच ऑन करते ही लोमहर्षक हत्याकांड तथा अन्य बर्बर घटनाओं पर नजर पड़ती है। इन्हें देख कुछ समय तक तो मन में विचार उठते हैं, मगर बाद में टीवी को बंद करते ही सब कुछ दिमाग से उतर जाता है और वैसी घटनाओं को लेकर चिंता भी नहीं रह जाती।

हर क्रिया की एक प्रतिक्रिया होती है। न्यूटन की गति के तीसरे सूत्र ने इसी बात को प्रमाणित किया है। मगर आज के दिन समाज के विभिन्न हलकों में घट रही

घटनाओं को लेकर होने वाली प्रतिक्रिया बेहद कमजोर नजर आती है। ऐसी घटनाओं को लेकर लोगों के दिल में किसी प्रतिक्रिया का न होना, क्या यह साबित नहीं करता कि मानवीय मूल्यों का पतन हो रहा है। प्रतिक्रियाहीन मानव जीवन मानो आहिस्ता-आहिस्ता मशीनीकरण में गुम होता जा रहा है। किसी को अन्य बारे में सोचने भर की फुर्सत नहीं है। मानवाधिकार की रक्षा के लिए कोशिश कर रहे संगठन, व्यक्ति आदि की भूमिका पर भी कभी-कभी संदेह होता है कि आखिरकार वे लोग किसके पक्ष में हैं। लीबिया के तानाशाह मोवम्मर गद्दाफी के पतन को लेकर विश्व भर में चर्चा हुई थी। लगातार ४२ साल तक एक देश पर शासन करने वाले किसी भी ऐसे शासक की उस देश के नागरिकों द्वारा मौत की कामना करना स्वाभाविक है। एक समय कर्नल गद्दाफी ने अपने विरोधियों को कुत्ते-बिल्लियों की तरह गोलियों से भुनवा दिया था। बाद में इस प्रतापी शासन की भी वही दशा हुई। मगर लीबिया के विद्रोहियों ने बाद में गद्दाफी के शव की जो दुर्गति की, उस घटना का कोई भी स्वस्थ्य व्यक्ति समर्थन नहीं कर सकता। क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार किसी को भी मृतक के प्रति असम्मान प्रकट करने का अधिकार नहीं है। लीबिया की सड़कों पर गद्दाफी के शव पर लाठियां बरसाने की घटनाएं मानवता के धूल में मिट जाने की ओर इशारा करती हैं। कोई व्यक्ति चाहे कितना ही बड़ा उग्रवादी अथवा तानाशाह क्यों न हो, उसके शव का अपमान करने का हक किसी को भी नहीं है। यह घटना तो एक उदहारण मात्र है। गिरते मानवीय मूल्यों को रोके जाने के लिए हर कोई बातें तो बड़ी-बड़ी करता है, मगर हकीकत में देखा जाए तो इस काम के लिए कोई आगे आना नहीं चाहता। आतंकवादियों के हाथों मारे गए अथवा बम विस्फोट में मारे गए व्यक्ति के परिजन, घायलों के परिवारों को कुछ रुपए थमा कर पूरे मामले को निपटाने की कोशिश की जाती है। मानवता की दलील देकर बहुत से लोग अमानवीय काम करने से भी नहीं चूकते। लोगों के अत्यधिक आत्मकेंद्रित हो जाने की वजह से भी मानवीय मूल्यबोध में गिरावट आई है। हर एक देश अपने अस्तित्व को साबित करने के लिए निरीह लोगों पर गोलियां बरसा रहा है। ऐसे कितने ही निरीह लोग असमय मर रहे हैं, उसका कोई हिसाब नहीं है। एक ओर तो संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव विभिन्न देशों के बीच शांति प्रतिष्ठा की कोशिशों में लगे हुए हैं, वहीं दूसरी ओर 'नाटो' अपना हित साधने के लिए मानवता के नाम पर विद्रोहियों के साथ मिलकर ध्वंस-यज्ञ चलाने में लगा है। आज मानवता देखने को नहीं मिलती। सड़क के किनारे असहाय अवस्था में किसी को पड़ा देख कोई भी व्यक्ति उसकी मदद के लिए आगे नहीं आता। आज के

दिन समाज में ऐसे लोग भी हैं, जो दुर्घटना में बुरी तरह से घायल व्यक्ति को बजाए इलाज के लिए अस्पताल पहुंचाने के, उसकी कीमती वस्तुएं छीन ले जाने में भी शर्म महसूस नहीं करते। संकटग्रस्त व्यक्ति की मदद करने के बजाए ऐसे लोग मानो उसे खत्म ही कर देने को उतारू हो जाते हैं।

आज के दौर में घर के चौपाल पर बैठकर दादी से कहानियां सुनने वाले पोते-पोतियों की संख्या पहले की अपेक्षा काफी कम हो गई है। संकट के समय एक-दूसरे की ओर मदद के हाथ बढ़ाने की मानसिकता भी अब नहीं रह गई है। बच्चे अपने ही मां-बाप की चिंता नहीं करते। तानाशाही का नतीजा कितना बुरा हो सकता है, समाज में इस बिंदु पर चिंतन करने वालों की संख्या बहुत कम है। पूरी दुनिया ऐसे लोगों से भरी पड़ी है, जो गरीबों की दो वक्त की रोटी भी हजम कर जाना चाहते हैं। मानवता के गीत गाने वालों के दिल नवजात बच्चे के क्रंदन की आवाज सुनकर भी नहीं पसीजते। ऐसे में यदि कोई पूछ बैठे कहां है मानवता! तो क्या गलत है।

पेट भरने के लिए चाहिए कलाकार पेंशन

जिन कलाकारों ने अनेक तकलीफें झेलकर असम के यात्रा (नाटक) दल को समृद्ध किया अथवा इसके विकास के लिए अपव्य अमूल्य योगदान दिया, उनमें बजाली महकमे के दक्षिण बजाली के डूबी गांव के टेपारट्टारी के दुग्ध मालाकार का स्थान पहला है। दुग्ध मालाकार जैसे कलाकारों की लगातार मेहनत ने एक समय असम के ऐतिहासिक यात्रा दलों में प्राण शक्ति का संचार किया था। श्री मालाकार ऐसे एक कलाकार हैं, जो चमड़े से बने सभी वाद्य यंत्र बजाने में पारंगत हैं। वाद्य यंत्रों पर अपनी कलाकारी दिखाकर लोगों का मनोरंजन करने वाले इस कलाकार की वर्तमान स्थिति ऐसी हो गई है कि उन्हें दो जून खाने के लिए भी सोचना पड़ता है। जबकि एक समय ऐसा भी था, जब श्री मालाकार के वाद्य यंत्र से निकलने वाला संगीत यात्रा दल के पंडाल को सम्मोहित किए रखता था। दर्शकों की तालियों की गड़गड़ाहट और उनके वाद्य स्वर पूरे माहौल में मिश्री घोलता था। इन सब बातों को याद कर वे भाव-विभोर हो उठते हैं और उनकी आंखों की कोरें भींग जाती हैं। बजाली का यह कलाकार मात्र १३ वर्ष की उम्र में कोटाकुशी के यात्रा दल में भर्ती हुआ था और बाद में कभी भी पीछे की ओर मुड़कर नहीं देखा। प्रख्यात वादक के तौर पर श्री मालाकार ने मालीपाड़ा यात्रा दल, मुगकुशी यात्रा दल, नटवाणी ऑपेरा, नटराज ऑपेरा में काफी सालों तक काम करने के बाद यात्रा दल का मंच छोड़ थिएटर की ओर कदम बढ़ाया। नटराज थिएटर, पूर्वज्योति थिएटर, सुरदेवी थिएटर और

भाग्यदेवी थिएटर में उन्होंने लगातार कई सालों तक संगीतकार के रूप में काम किया और पुतला थिएटर में तीन सालों तक काम करने के बाद अपनी सांस्कृतिक-संगीत की दुनिया को अलविदा कह दिया। अपनी सांस्कृतिक यात्रा के दौरान हर पल-हर घड़ी दर्शक-श्रोताओं को हंसाने वाले इस कलाकार को अपनी जिंदगी में खुद के लिए कुछ भी हासिल नहीं हुआ। जिंदगी के सफर के अंतिम पड़ाव पर जाकर उन्हें महसूस हुआ कि जनता की तालियों की गड़गड़ाहट से उनके पेट की भूख शांत नहीं हो सकती। हमेशा दर्शकों की भीड़ में घिरे रहने वाला यह कलाकार आज अपने घर में अकेला है। झोपड़ी में दिन गुजारने वाले इस कलाकार की लड़ाई दो वक्त का खाना जुटाने को लेकर है। सरकार के सांस्कृतिक मामलों के विभाग ने इस कलाकार की ओर एक बार भी पलटकर नहीं देखा। विभागीय अधिकारियों से बहुत बार आवेदन-निवेदन करने के बाद भी उन्हें कलाकार पेंशन नहीं मिली। सरकार की ओर से आज तक मालाकार को आर्थिक मदद के नाम पर एक फूटी कौड़ी तक नहीं मिली। जिंदगी के अंतिम पड़ाव पर पहुंच चुके इस कलाकार के साथ बात तक करने की किसी को फुर्सत नहीं है। ऐसे में शिल्पी सहायता निधि : असम और स्वरांजलि के पदाधिकारी-सदस्यों ने उनके टेपारट्टरी स्थित निवास पर जाकर उन्हें २५ हजार रुपए की आर्थिक सहायता देने के साथ ही परंपरागत ढंग से जापी-चादर ओढ़ाकर अभिनंदन भी किया। इस मौके पर दुग्ध मालाकार ने कहा उनके जैसे कलाकार ने लिए शिल्पी सहायता निधि : असम और स्वरांजलि किसी बड़े मददगार से कम नहीं है। गरीबी की मार ने न सिर्फ उनके आंखों की ज्योति को कम कर दिया है, बल्कि अब उनके हाथ-पैर भी कांपने लगे हैं। इसके बावजूद उनके दिल में वाद्य यंत्र बजाने की ललक कम नहीं हुई है। कल तक लोगों की भीड़ में घिरे रहने वाले श्री मालाकार आज पूरी तरह से अकेले हैं। जिंदगी के अंतिम पड़ाव में उन्हें कलाकार पेंशन, स्वीकृति के लिए अपने पेट की भूख को मिटाने के लिए चाहिए। काश! सरकार के पास समय होता, एक बार ऐसे गरीब-कमजोर कलाकार की ओर मुड़कर देखने का। जीवन के इस अंतिम पड़ाव पर दुग्ध मालाकार उम्मीद भरी नजरों से देख रहे हैं कि उन्हें सरकारी पेंशन मिले तो उनके दो जून की रोटी की समस्या का समाधान हो जाए।

एक शताब्दी का गवाह है पाठशाला का माध्यमिक विद्यालय

समाज निर्माण में देश के विश्वविद्यालयों की भूमिका पर विभिन्न हलकों में अक्सर चर्चाएं होती रहती हैं। इन विश्वविद्यालयों के विभिन्न संबंधित विभागों को देश के आदर्श नागरिक तथा विभिन्न मामलों के विशेषज्ञों का जन्मदाता माना जाता है। मगर एकदम प्राथमिक स्तर से बच्चों को शिक्षा प्रदान कर उनके आने वाले जीवन के लिए मजबूत आधार तैयार करने वाले प्राथमिक अथवा निम्न बुनियादी विद्यालयों को इस मामले में कोई खास महत्त्व नहीं दिया जाता। इसके बावजूद वैसे बहुत से विद्यालय स्वमहिमा के साथ सदैव चमकते रहते हैं। बहुत ही सीमित साधनों के बीच शिक्षक-कर्मचारी पूरी निष्ठा, मेहनत, ईमानदारी और जिम्मेदारियों की बदौलत अपने विद्यालय के नाम को चमकाए रखते हैं। ऐसे विद्यालय के बहुत से शिक्षार्थी बाद में जाकर समाज को एक नई दिशा देने में अग्रणी भूमिका का निर्वाह करते हैं। इंसान गढ़ने की कुम्हारशाला स्वरूप जैसा ही एक विद्यालय है मेरे शैशव काल वाला विद्यालय। जिसका नाम भले ही पाठशाला माध्यमिक विद्यालय हो, लोगों में वह पाठशाला एमवी स्कूल के नाम से अधिक विख्यात है। स्थानीय लोग इस स्कूल को प्यार से बूढ़ा एमवी कहकर भी बुलाते हैं। वर्ष १९०९ में स्थापित इस बूढ़ा एमवी अथवा पाठशाला माध्यमिक विद्यालय के एक शताब्दी वर्ष पूरे कर लेना इसके अन्य

हजारों विद्यार्थियों की तरह मेरे लिए भी गौरवान्वित तथा पुलकित होने वाली बात है। विद्यालय के शताब्दी वर्ष के मौके पर विद्यालय में पूरे साल भर विभिन्न कार्यक्रम मनाए गए। इन कार्यक्रमों के माध्यम से विद्यालय ने अपने पुराने दिनों को याद किया और आने वाले दिनों में विद्यालय को किस दिशा में ले जाना है, इसको लेकर रूप रेखा तय की। शिक्षा-संस्कृति के क्षेत्र में इस विद्यालय का राज्य भर के बौद्धिक जगत में एक विशेष स्थान है। असम के मेधा भंडार कहे जाने वाले पाठशाला तथा इसके आसपास के इलाकों में ऐसे शिक्षण संस्थानों की कमी नहीं है। इस अंचल में ढेर सारे सरकारी, गैर-सरकारी विद्यालय हैं। इन सभी शिक्षण संस्थानों के बीच गर्व से सर उठाए खड़ा है पाठशाला माध्यमिक विद्यालय। पिछली शताब्दी के प्रारंभ में वृहत्तर बजाली अंचल के कुछ विद्योत्साही व्यक्तियों की कोशिशों के फलस्वरूप पाठशाला माध्यमिक विद्यालय अस्तित्व में आया। स्थापनाकाल से ही विद्यालय का नेतृत्व सुयोग्य व नि:स्वार्थी हाथों में रहा है। इसकी शुरुआत से आज तक विद्यालय के हर एक शिक्षक-शिक्षिकाओं ने जिस निष्ठा व मेहनत के साथ इसे स्थापित करने में जो भूमिका निभाई है, उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस विद्यालय को लेकर अन्य एक ध्यान देने वाली बात यह है कि पाठशाला का वृहत्तर समाज इसके साथ अपना एक जुड़ाव महसूस करता है। पाठशाला का हर एक व्यक्ति इस विद्यालय के भले-बुरे को लेकर चिंतित रहता है, भले ही वह स्कूल का शिक्षक-अभिवावक हो या न हो। हो सकता है ऐसी ही सामूहिक कोशिशों की वजह से इस विद्यालय के बहुत से पूर्व छात्र समाज के विभिन्न क्षेत्रों में उच्चासन्न पर पहुंचने में सफल रहे हैं। इस विद्यालय में पढ़े-लिखे छात्र दुनिया के सभी महादेशों में कार्य करते हुए मिल जाएंगे। विद्यालय की उज्ज्वल परंपरा का निर्वाह करते हुए विद्यालय से जुड़ा नेतृत्व व अन्य लोग इसे आगे बढ़ाने की दिशा में लगे हुए हैं। मगर शिक्षण जगत में आ रहे बदलाव को देखते हुए जरूरी है कि सरकार व समाज की ओर से विद्यालय पर और अधिक ध्यान दिया जाए।

काम करने वाली लड़की और महिला दिवस

विश्व भर में महिला दिवस पर विभिन्न चर्चा, विचार गोष्ठी, सभा-समारोह का आयोजन किया जाता है। इस दिन महिला आंदोलन से जुड़े महिलावादी बड़े-बड़े भाषण देते हैं। महिलाओं के सशक्तिकरण पर सारगर्भित संबोधन रखते हैं। बहुतों के संबोधन सुन ऐसा लगता है, मानो एक रात में ही महिलाएं शोषणमुक्त हो जाएंगी। महिलाएं महिलाओं के मूल्योबोध को समझ पाएंगी। एक छतरी के नीचे बैठ महिला जाति, धर्म, भाषा आदि के दायरे से ऊपर उठकर सभी मामलों का समाधान करना होगा। एक महिला अन्य महिला के संकट के समय मदद का हाथ बढ़ाए। किसी को आंसू न बहाने पड़े। मजदूरों को उनके काम की सही मजदूरी मिले। पुरुष-महिलाओं के बीच पारिश्रमिक के मामले में कोई अंतर न रहे। महिलाएं एकजुट होकर रहें। मगर देखा गया है कि महिला दिवस के मौके पर जिन विषयों को लेकर चर्चाएं अथवा गरमा-गरम बहस आदि होती हैं, वह मुद्दे साल के अन्य ३६४ दिन गौण हो जाते हैं। बाद में जब अगली बार फिर महिला दिवस आता है तो सभी अपना-अपना भाषण देने की तैयारियों में जुट जाते हैं। ऐसे वक्ताओं के गरमा-गरम भाषण देने से ही महिलाओं से जुड़ी समस्याओं का समाधान हो जाएगा, ऐसा नहीं है। देखा जाता है कि महिला दिवस के कार्यक्रम में कौन कितना प्रभावशाली भाषण दे पाता है, सभी के कान इसी ओर लगे रहते हैं। कुछ नेता अथवा नेत्री समाचार माध्यमों का ध्यान

आकर्षित करने के लिए कुछ विशेष योजना आदि की घोषणाएं करते हैं। इसके अलावा बेहद पिछड़े इलाके की महिलाओं को लेकर सभा आदि का आयोजन कर अपनी जिम्मेदारी को संपूर्ण समझ लिया जाता है। उन लोगों के लिए महिला सशक्तिकरण का दायरा उतने तक ही सीमित है। महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए विश्व भर में मनाए जाने वाले इस दिवस के गुजर जाते ही ऐसे लोग महिला मजदूरों के पुरुषों के मुकाबले कम मजदूरी देने के मुद्दे पर आवाज तक नहीं उठाते।

घर-घर काम करने वालियों को जब 'बाई', 'आपी' अथवा काम करने वाली महिला आदि नामों से संबोधित किया जाता है, तब कानों को चोट पहुंचती है। महिलाओं की मजदूरी का अर्थ सिर्फ कार्यालयों में दैनिक अथवा मासिक मजदूरी पर काम करने वाली महिलाओं को लेकर ही नहीं है। तथाकथित जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, विशेषकर 'बाई', 'आपी' सभी के हक में कितने लोग आवाज उठाते हैं। दिन-रात काम करने के बावजूद इन महिलाओं को मजदूरी के उचित पैसे नहीं मिलते। क्या घर का काम-काज करने में मेहनत-तकलीफ नहीं होती। इन्हें धमकाते हुए इनकी मुट्ठी में मजदूरी के नाम पर कुछ रुपए खोंस देने वाले लोगों के खिलाफ आवाज उठाने की ताकत इन गरीब महिलाओं में नहीं है। ऐसी महिलाएं तो अपने तथाकथित मालिकों के गुस्से से लाल आंखों को देखकर ही सहम-डर जाती हैं। क्योंकि 'बाई', 'आपी' का अभिशाप ढोने वाली ये महिलाएं यदि दूसरों के घरों में चौका-बर्तन न करें तो इनके घर में चूल्हा भी न जले। कुछ लोगों को छोड़ दें तो अधिकांश लोग काम करने वाली बाइयों के बारे में कुछ ऐसी ही धारणाएं रखते हैं।

चाय मजदूर के तौर पर नियुक्त महिलाओं के हक में आवाज उठाने वाले लोगों की भी हमारे समाज में बहुत कमी है। ऐसी महिलाओं को सिर्फ मजदूरी के मामले में वंचित होना पड़ रहा है ऐसी बात नहीं है, सामाजिक क्षेत्र में इन महिलाओं की एक जैसी ही स्थिति है। महिला को देवी का दर्जा देने वाले हमारे देश में आज भी महिलाएं आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र में शोषण की बलि होती आ रही हैं। महिलाओं के विरोध की भाषा लोग समझ नहीं पाते। और तो और, परिवार के ही दूसरे लोग भी महिलाओं की बातों को समझने की कोशिश नहीं करते। ये महिलाएं तड़के उठकर घर का काम-काज खत्म कर चाय बागान में काम करने पहुंच जाती हैं। बिना धूप-बरसात की परवाह किए दिन भर अपने कंधों पर टोकरी लटकाए अपने काम में लगी रहती हैं। मगर जब अपना काम खत्म कर शाम को घर लौटती हैं तो इनके हाथ खाली रहते हैं। सप्ताह के शेष में साप्ताहिक मजूरी के रूप में जो पैसे मिलते हैं, उससे

परिवार का पेट नहीं भरता। शराबी पति का अत्याचार सहने, ऊपरवाले अधिकारी की गाली-गलौज सुनने और जी-तोड़ मेहनत करने के लिए ही मानो इनका जन्म हुआ हो। स्वाधीनता के छह दशक गुजर जाने के बाद भी हमारे देश की अधिकांश महिलाओं को उचित मजदूरी नहीं मिल पाती है। एक ही काम करने वाले महिला-पुरुषों के बीच भी मजदूरी को लेकर अंतर दिखाई देता है।

अब महिला दिवस पर आयोजित परिचर्चा, विचार गोष्ठी के विषयों में बदलाव लाने का वक्त आ गया है। सिर्फ नारेबाजी करने से महिलाओं से जुड़ी समस्याओं का समाधान नहीं होने वाला। महिला दिवस के मौके पर बैनर, पोस्टर लेकर जुलूस निकालने, नारे लगाने और चर्चाओं में भाग लेने से अधिक जरूरी है महिला मजदूरों को हम संगठित करें। इसके लिए हमें बजाए वातानुकूलित कमरों में बैठकर लंबी-लंबी हांकने के इन महिला मजदूरों के घरों में जाना होगा। हम यदि सिर्फ भाषणबाजी में ही लगे रहें तो वंचित महिलाओं और आंदोलनकारियों के बीच फासला बढ़ेगा, कम नहीं होगा। जब तक देश की सारी महिलाएं एक ही पंक्ति में खड़ी नजर नहीं आतीं, तब तक महिला मजदूरों की समस्या इसी तरह जस की तस बनी रहेगी।

शर्मिष्ठा प्रीतम और एक अनुभूति

विकलांगता सृजन की रुकावट नहीं बन सकती। स्टेफिन हॉकिंग्स ह्वील चेयर पर बैठकर ही विश्व ब्रह्मांड के तारे-ग्रह, ब्लैक होल के ऊपर शोध कर रहे हैं। फरासी सेनापति नेपोलियन बोर्नापाट के हृदय में एक छिद्र होने के बावजूद वह विपक्षी सेनाओं पर आक्रमण करते रहे। सिर्फ वहीं नहीं, विकलांग होकर भी ओलंपिक खेल समारोह में दौड़ने का उदाहरण भी है। हमारे समाज में ऐसे कुछ विकलांग लोग हैं, जो हर वक्त शारीरिक, मानसिक चुनौतियों से लड़ते रहे हैं और अपने सृजनकर्म को भी जारी रखे हुए हैं।

ऐसी ही एक युवती है शर्मिष्ठा प्रीतम। विशिष्ट साहित्यकार तथा असम साहित्य सभा के पूर्व अध्यक्ष होमेन बरगोहाईं ने नगांव में उसकी आत्मकथा पुस्तक का विमोचन किया था। इस विमोचन सभा में मुझे भी उपस्थित होने का मौका मिला था। शर्मिष्ठा के मनोबल और साहस को देखकर मुझे हेमिंग की विख्यात उक्ति याद आई, 'एक व्यक्ति की हत्या की जा सकती है, मगर उसको पराजित नहीं किया जा सकता।' युवती की पुस्तक में विकलांगों की मन की स्थिति एवं अनुभूति की झलक मिलती है। ह्वील चेयर पर ताउम्र बैठी रहने वाली सुंदरी और विदूषी तरुणी शर्मिष्ठा ने कहानी, कविता और आत्मजीवनी के बीच अपने जीवन के अर्थ को खोज लिया है। जीवन में कुछ करने के लिए आत्मविश्वासी होना ही पड़ेगा। आत्मविश्वास के बिना कोई भी जीवन संग्राम में विजयी नहीं हो सकता। हमारे समाज में धनी लोगों का की कमी नहीं है। अट्टालिका राजसुख में रहने वाले लोग स्वस्थ होने पर भी उनके

पड़ोसियों के अलावा उन्हें अन्य कई लोग ही जानते हैं, मगर गुवाहाटी विश्वविद्यालय में पढ़ी डॉ. भूपेन हजारिका के गीत गाने वाली अंधी गायिका, फिल्म निर्देशक शर्मिष्ठा जैसी तरुणी यह ने साबित कर दिखा दिया है कि विकलांग भी मनुष्य के दिल को जीत सकते हैं। समाज के अन्य लोगों की तरह जीने की ताकत उनमें भी है। उनका जन्म हारने के लिए नहीं हुआ है। दरअसल हम विकलांग शब्द का प्रयोग न कर अन्य तरीके से सक्षम शब्द का प्रयोग करें तो उचित होगा।

समय के बदलाव के साथ-साथ मनुष्य की चिंतन-धारणा में भी बदलाव आने लगा है। कई वर्ष पहले तक मनुष्य जिस तबके को बहुत अच्छी नजरों से नहीं देखता था, मगर उन लोगों ने बाद में साबित कर दिखाया कि समाज में अक्षम व्यक्ति कोई नहीं है। अंधे व्यक्ति ने शीर्ष स्थान हासिल किया। शारीरिक रूप से अक्षम होने के बावजूद मानसिक तौर पर शक्तिशाली हो महाकाश में ब्लैक होल का पता लगाया था हॉकिंग्स ने। रवींद्र जैन के कंठ से निकले सुरीले गीत, सुधा चंद्रन के नृत्य से प्रभावित होने वालों की संख्या आज भी कम नहीं है। शर्मिष्ठा प्रीतम को भी हम अन्य दूसरे लोगों की तरह कम गुणसंपन्न व्यक्त्वि की अधिकारिणी नहीं कह सकते। इस प्रसंग में असम साहित्य सभा के पूर्व अध्यक्ष होमेन बरगोहाईं द्वारा कही गई एक बात का उल्लेख कर सकते हैं कि संदेह से परे प्रतिभा की अधिकारिणी शर्मिष्ठा ने अपने लेखन विशेषकर आत्मजीवनी के द्वारा प्रमाणित कर दिखाया कि पराजित होने के लिए मनुष्य का जन्म नहीं हुआ है। बगीचे में बहुत से सुंदर फूल रहते हैं, कुछ फूल सुगंध की वजह से, कुछ रंग और अपनी संपूर्णता के दम पर आकर्षण का केंद्र बनते हैं। उसी तरह हमारे समाज में ऐसे बहुत से लोग हैं, जो सुंदर-स्वस्थ काया के अधिकारी हैं, मगर उनके जीवन का लेखा-जोखा निकाला जाए तो सिवाय शून्य के और कोई संख्या नहीं निकलती। जीवन की शाम तक सिर्फ सुख-शांति से खा-पीकर जिंदा रहते हैं, जबकि शर्मिष्ठा जैसी प्रतिभा संपन्न तरुणी शारीरिक-मानसिक विकलांग होने के बावजूद मन के अदम्य शक्ति के दम पर सैकड़ों हृदयों को जीत सकती है। नगांव के उस विशेष दिन से हम सभी शिक्षा नहीं ले सकते? हमारी अंतर्दृष्टि कब खुलेगी।

एक फोटो की कीमत २९ करोड़ !

शीर्षक देखकर शायद आप सोच रहे होंगे कि एक फोटो खींचने की अनुमति लेने के नाम पर कोई भला २९ करोड़ रुपए क्यों खर्च करेगा। फोटो खींचकर समाचारपत्र में प्रकाशित करने की अनुमति हासिल करने के लिए इतनी बड़ी धन राशि खर्च करने वाला उस फोटो को प्रकाशित कर कितना लाभ कमा सकता है, इसका हम सिर्फ अनुमान ही लगा सकते हैं। अभिषेक बच्चन-ऐश्वर्या राय की बेटी की पहली फोटो खींचने के लिए ब्रिटिश टैबलायड 'नेशनल एनेक्टबाइरर' ने बच्चन परिवार को १५ लाख डॉलर देने का प्रस्ताव रखा था, हालांकि बच्चन परिवार ने ब्रिटिश टैबलायड के इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया था। इससे पहले कभी ऐसा नहीं सुना गया कि बॉलीवुड के किसी लोकप्रिय अभिनेता-अभिनेत्री को फोटो खिंचवाने के नाम पर किसी ने इतनी बड़ी रकम देने की पेशकश की हो। हालांकि हॉलीवुड की बात अलग है। हॉलीवुड की तो एक अलग ही तस्वीर दिखाई पड़ती है।

आज के दिन हॉलीवुड के अभिनेता-अभिनेत्रियों के बच्चों की फोटो खींचने के नाम पर जितनी बड़ी रकम की पेशकश की जा रही है, उतनी रकम में तो दो-तीन हिंदी फिल्मों का निर्माण किया जा सकता है। एजेंलिना जोली-ब्रेड पीट के बच्चे की एक फोटो के लिए पश्चिमी समाचारपत्र ने २९ करोड़ रुपए का भुगतान किया था। एक फोटो के नाम पर इतनी बड़ी रकम का भुगतान करने में क्या फायदा? साधारण नजरिए से यदि देखा जाए तो इसमें कोई बड़ा फायदा नजर नहीं आता, मगर फोटोग्राफी के नजरिए से इसकी कीमत को कोई नहीं आंक सकता।

इसी कड़ी में एक फोटो का जिक्र करना चाहूंगा, जिस फोटो को बेचकर एक फोटोग्राफर रातों रात करोड़पति हो गया था। यह लगभग २५ साल पुरानी कहानी है। सचिन तेंदुलकर तब स्कूली छात्र था। ठीक तभी सचिन को मुंबई की ओर से रणजी मैच में खेलने का मौका मिला। अपने पहले मैच में ही उसने अपना जलवा दिखा दिया था। तेंदुलकर रणजी मैच खेलने के लिए उतरने से पूर्व जब वानखेड़े स्टेडियम में अभ्यास में व्यस्त थे, उस समय वेंगसरकर भी स्टेडियम में ही थे। तभी एक फोटोग्राफर वेंगसरकर की फोटो खींचने में लग गया। उस वक्त वेंगसरकर ने फोटोग्राफर से कहा कि 'तुम मेरी फोटो खींचना छोड़, अभ्यास करने में लगे उस किशोर की फोटो खींचो। फायदे में रहोगे।' वेंगसरकर की यह सोच आगे जाकर सही साबित हुई। बाद में वही किशोर आगे चलकर एक महान क्रिकेटर बना और दुनिया के श्रेष्ठ क्रिकेटरों की पांत में शामिल हुआ। तेंदुलकर के महान क्रिकेटर बनते ही उस फोटोग्राफर की खींची फोटो बेशकीमती हो गई और फोटोग्राफर को उस फोटो की कीमत के रूप में ढेर सारी रकम मिली। उस समय हो सकता है वेंगसरकर की बात को फोटोग्राफर ने कोई खास महत्त्व नहीं दिया होगा, मगर बाद में देखा गया कि वेंगसरकर की सलाह उस फोटोग्राफर का भाग्य उदय करने वाली सलाह साबित हुई।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय और वियतनाम के युद्ध की दो अलग-अलग तस्वीरें आज भी उन दौरान डरे-सहमे लोगों की मनोस्थिति का प्रदर्शन करती प्रतीत होती हैं। वियतनाम के युद्ध के समय राजमार्ग से दौड़ते हुए डरे-सहमे बच्चों की फोटो को देखने के बाद शायद ही कोई उस क्षण को भूल पाया होगा। वह फोटो आज भी अमूल्य है। कोई भी उसकी कीमत नहीं आंक सकता।

नेपोलियन बोनापार्ट का वह सेनापति

१५ अगस्त सन् १७६९। फ्रांस से सौ किलोमीटर दूर भूमध्य सागर के बीच स्थित है एक द्वीप-कर्सिका। इसी द्वीप पर उस दिन एक महान सेनापति का जन्म हुआ था। तब कर्सिका द्वीप फ्रांस के अधीन हुआ करता था। फ्रांस ने दो साल पहले ही इस द्वीप को इटली के कब्जे से मुक्त करवाया था। इसी द्वीप पर चार्ल्स बोनापार्ट नामक एक अधिवक्ता निवास करता था। चार्ल्स की पत्नी का नाम लेटिशिया था। उन्हीं के गर्भ से १५ अगस्त को इस बच्चे का जन्म हुआ था। बाद में आगे चलकर यही बच्चा पूरी दुनिया में नेपोलियन बोनापार्ट के नाम से मशहूर हुआ। चार्ल्स के ग्यारह बच्चों में नेपोलियन दूसरे नंबर पर था। धीरे-धीरे नेपोलियन जब बड़ा हो रहा था तब एक दिन अचानक उसके पिता चार्ल्स बोनापोर्ट का निधन हो गया। परिवार के मुखिया के एकाएक इस तरह से चले जाने से पूरे परिवार पर आर्थिक संकट का साया मंडराने लगा। तब लेटिशिया को द्वीप के शासक काउंट की ओर से आर्थिक मदद मिली। बाद में काउंट के कहने पर नेपोलियन को पेरिस की ब्रायन मिलिटरी स्कूल में अध्ययन के लिए भेज दिया गया।

सन् १७८४ के किसी एक दिन घटी एक घटना ने बाद में उसे सहयोद्धा चुने जाने में मदद की। नेपोलियन फारसी भाषा बहुत अच्छी तरह से नहीं जानता था, इसके लिए उसके साथी-संगी उसका मजाक उड़ाया करते थे। नेपोलियन ऐसे मजाक सहन तो करता था, मगर उसके मन में क्रोध की लहरें हिलोरें मारने लगती थीं। इस क्रोध को सामने निकलकर आने में बहुत अधिक दिनों की जरूरत नहीं पड़ी। चूंकि बचपन से ही नेपोलियन सभी से आगे दौड़ना चाहता था, इसीलिए सभी साथियों को अपने आदेश मानने पर मजबूर भी किया करता था। अदम्य साहस के धनी नेपोलियन के खिलाफ आवाज उठाने की हिम्मत किसी में भी नहीं थी। इसी तरह दिन गुजर रहे थे कि एक दिन एक घटना घटी। उस साल पेरिस में कड़ाके की ठंड पड़ी थी। चारों और बर्फ बिखरी पड़ी थी। दूर से देखने पर पूरा शहर बर्फ से ढका दिखाई दे रहा था। कोई भी कहीं भी आने-जाने की स्थिति में नहीं था। खराब मौसम की वजह से लगभग सभी स्कूलों को बंद कर दिया गया था। मगर नेपोलियन ने अपने स्कूल के विद्यार्थियों को हाथ पर हाथ धरे बैठने नहीं दिया। उसने सभी को युद्ध-युद्ध खेलने को उकसाया और सच में सभी ने युद्ध-युद्ध का खेल खेलकर अपने शरीर को गर्म कर लिया। इसीलिए नेपोलियन सभी में लोकप्रिय हो गया। नेपोलियन ने एक योजना बताई ताकि कड़ाके की ठंड वाले समय को आराम से गुजरा जा सके। उसने स्कूल प्रबंधन से अनुरोध किया कि छात्रों को बर्फ के ऊपर युद्ध करने की अनुमति प्रदान की जाए। स्कूल प्रबंधन ने भी नेपोलियन के प्रस्ताव को हरी झंडी दिखा दी।

बर्फ के पहाड़ पर छात्रों को दो भागों में विभक्त कर युद्ध के लिए तैयार किया गया। दुर्ग के नीचे तैनात सैन्य दल का नेतृत्व स्वयं नेपोलियन ने किया। कड़ाके की ठंड के बीच दोनों ओर के सैनिकों ने युद्ध छेड़ दिया। विद्यालय के शिक्षक तथा अन्य छात्र इस युद्ध का दर्शक बने। युद्ध-युद्ध का खेल भी मनोरंजन का जरिया बन गया। मगर उसी दौरान एक घटना घटी। नेपोलियन जिस दल का नेतृत्व कर रहा था, उस दल के एक सैनिक द्वारा सेनापति नेपोलियन की आज्ञा न मानने के अपराध में उसे सिर पर नेपोलियन ने बर्फ के टुकड़े से प्रहार कर खून निकाल दिया। खेल देख रहे दर्शक हैरान रह गए कि खेल-खेल में भी आदेश का पालन नहीं करने पर ऐसी कड़ी सजा दी जा सकती है। मगर कोई भी नेपोलियन के खिलाफ अपना मुंह खोलने की हिम्मत तक नहीं जुटा पाया। बाद में यही सैनिक महापराक्रमी बनकर नेपोलियन का विश्वस्त सेनापति बना, जिसका नाम था मार्श्वेल।

नेपोलियन ने जितने भी युद्ध लड़े, मार्श्वेल हर एक युद्ध में उसका संगी बना। २

दिसंबर सन् १८०४ को नेपोलियन फ्रांस के सिंहासन पर बैठा, तब उसकी उम्र सिर्फ ३५ साल की थी। सेनापति से सम्राट बनकर सिंहासन पर बैठने के बाद से ही नेपोलियन को लड़ाइयों में व्यस्त हो जाना पड़ा, क्योंकि उस समय इंग्लैंड, फ्रांस में अस्थिरता फैलाए रखने के लिए साजिशें रचने में व्यस्त था। उसने रूस और आस्ट्रेलिया को भी फ्रांस के खिलाफ भड़का रखा था। इसलिए ३ दिसंबर १८०५ को नेपोलियन को रूस और आस्ट्रेलिया की संयुक्त सेना का सामना करना पड़ा और अस्टारलीज का युद्ध शुरू हुआ। दोनों ओर से भयंकर लड़ाई लड़ी गई और अंतत: नेपोलियन की विजय हुई। उस युद्ध में मार्श्वेल एक साए की तरह नेपोलियन के साथ लगा रहा।

इसके बाद पोलैंड पर कब्जा जमाने के लिए फ्रांस और रूस ने शीतयुद्ध छेड़ दिया। स्पेन पर अधिकार जमाने के बाद नेपोलियन की सेना पोलैंड की ओर बढ़ने लगी। सन् १८१२ में चार लाख बीस हजार सैनिकों के साथ नेपोलियन ने वानजिग की ओर रुख किया। इतनी बड़ी सेना को संचालित करने के लिए नेपोलियन ने १३ सेनापतियों को सैन्य संचालन की जिम्मेदारी सौंपी। इन सेनापतियों में मार्श्वेल प्रमुख था। पोलैंड पर अपना कब्जा जमाने के बाद अन्य कई देशों पर विजय हासिल कर नेपोलियन एक पराक्रमी सम्राट बन बैठा, जिसे पराजित कर पाना उस वक्त किसी के भी बस की बात नहीं थी। मगर अधिक लोभ ही आगे चलकर नेपोलियन के पतन का कारण बना।

पोलैंड पर कब्जा जमाने के बाद नेपोलियन की रूस पर नजर पड़ी। रूस के सम्राट को सबक सिखाने के लिए उसने मास्को की ओर रुख किया। फ्रांस का सम्राट यहीं गलती कर बैठा। इस अभियान में उसकी सेना बुरी तरह से तहस-नहस हुई। लिपजिग के युद्ध में पराजित होने के बाद नेपोलियन को भू-मध्य सागर के बीच स्थित एलाबा द्वीप में निर्वासन के लिए भेज दिया गया, मगर विपरीत परिस्थितियां भी उसे अधिक दिनों तक बंदी बनाकर नहीं रख पाईं। उस द्वीप से बाहर निकलने के बाद उसने फिर से फ्रांस के सिंहासन पर अपना कब्जा जमाया। मगर जैसा कि कहावत है कि मनुष्य के जीवन में संकट एक साथ आते हैं। नेपोलियन के साथ भी ऐसा ही हुआ। रूस के साथ हुई लड़ाई में जहां एक ओर उसकी पूरी सेना ही तबाह हो गई थी, वहीं दूसरी ओर उसका अपने सेनापतियों पर से भी विश्वास उठ गया था।

१३ जून सन् १८१५ को नेपोलियन यूरोप की संगठित शक्ति से लोहा लेने के लिए अपनी सेना के साथ आगे बढ़ा, मगर इस अभियान में उसके ही तीन सेनापतियों ने उसके साथ विश्वासघात किया। नेपोलियन के एक बेहद महत्त्वपूर्ण समझे जाने

वाले सेनापति वारमेंट ने इस अभियान के बारे में प्रोशिया के सेनापति ब्लूकार को पहले से ही जानकारी दे दी थी। १५ जून को नेपोलियन ने अपने विश्वस्त सेनापति माश्र्वेल को चालीस हजार सैनिकों के साथ कोवाटा के ब्रास पर कब्जा जमाने के लिए भेज दिया। दूसरी ओर माश्र्वेल इस चेष्टा में लगा रहा कि ब्लूकार किसी भी हालत में इंग्लैंड के सेनापति ड्यूक आफ वेलिंटन के साथ न मिल सके। मगर ब्लूकार इससे पहले ही एक सुविधाजनक स्थिति में पहुंच चुका था। दूसरी ओर नेपोलियन ने सेनापति माश्र्वेल ग्रेशिक को ब्लूकार पर पीछे से आक्रमण करने के लिए भेजा था, मगर वह बजाए अपने काम को अंजाम देने के हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा। ग्रेशिक नेपोलियन को संकट में डालने के लिए वाटरलू की ओर अग्रसित नहीं हुआ। १८ जून को विश्व के शक्तिशाली सम्राट नेपोलियन बोनापार्ट को वाटरलू में पराजय का सामना करना पड़ा। इस युद्ध के बाद इंग्लैंड के सेनापति ड्यूक आफ वेलिंटन ने नेपोलियन के विश्वस्त सेनापति माश्र्वेल की गोली मारकर हत्या कर दी और इसी तरह दो दोस्तों के जीवन का दुखद अंत हो गया।

समन्वय के सेतु : हृदयानंद अग्रवाला

राज्य के बाहर से असम में आकर, ब्रह्मपुत्र के इस पार-उस पार को अपना बनाकर, यहीं अपनी जीवन-जीविका तलाश लेने वाले लोगों का असमिया संस्कृति को समृद्ध करने में कम योगदान नहीं है। ऐसे लोगों का एक बड़ा हिस्सा वृहत्तर असमिया जाति गठन प्रक्रिया में शामिल हो गया है और असम तथा असमिया को समृद्ध करने में लगा है। सुखद बात यह है कि असम को अपना चुके प्रवर्जित लोगों में से कुछ ऐसे लोग भी निकलकर सामने आए हैं, जिन्होंने साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में असमिया जाति को नेतृत्व प्रदान करने की अपनी क्षमता का प्रदर्शन किया है। ऐसे ही एक व्यक्ति थे, स्वर्गीय हृदयानंद अग्रवाला। भले ही हृदयानंद अग्रवाला को असम के लोग रूपकुंवर ज्योतिप्रसाद अग्रवाला के छोटे भाई के रूप में जानते-पहचानते हैं, मगर इस बात में भी कोई दो राय नहीं है कि रूपकुंवर के प्रसंग के बिना भी हृदयानंद अग्रवाला का स्वयं की एक पहचान, एक वजूद था। फिल्म निर्माता और समाजसेवक के रूप में हृदयानंद अग्रवाला ने जो खुद की एक पहचान व छवि बनाई थी, उसकी चमक आने वाले दिनों में भी यथावत् बनी रहेगी। इसका प्रमाण डॉ. हीरेन गोहाईं जैसे राज्य के विशिष्ट बुद्धिजीवी की कलम से निकले शब्दों में मिलता है। उन्होंने हृदयानंद अग्रवाला के निधन पर शोक प्रकट करते हुए लिखा था, 'हर एक असमिया उनके समक्ष चिरकृतज्ञ रहेगा।'

२१ जुलाई वर्ष १९१७ को डिब्रूगढ़ के तामोलबाड़ी चाय बागान में हृदयानंद अग्रवाला का जन्म हुआ था। ब्रिटिश युग के उन चाय बागानों का जिक्र आते ही हमारे दिलों में एक अलग तरह की ही तस्वीर उभरकर सामने आती है। बाहरी दुनिया से बिल्कुल अलग-थलग एक स्वतंत्र दुनिया, एक स्वतंत्र प्रशासन, अलग परिचय। मालिक-मजदूरों के द्वंद, शोषण-उपेक्षा और बहुत कुछ। वैसे ही माहौल में बड़े हुए

हृदयानंद अग्रवाला का कलाकार हृदय प्रस्फुटित हुआ था। इसके अलावा बचपन से ही उनको बहुमुखी प्रतिभा के धनी रूपकुंवर ज्योतिप्रसाद अग्रवाला का भी सान्निध्य प्राप्त था। अपना कलाकार मन और रूपकुंवर का सान्निध्य, हृदयानंद अग्रवाला के लिए सोने में सुहागे जैसा साबित हुआ। हृदयानंद अग्रवाला एक मेधासंपन्न, तेज दिमाग वाले व्यक्ति थे, उन्होंने छात्र जीवन में ही इसका परिचय दे दिया था। परमांद अग्रवाला और किरणमयी अग्रवाला के सबसे छोटे बेटे हृदयानंद के छह भाई-बहन थे। परिवार की ऐसी स्थिति के बीच हृदयानंद अग्रवाला ने कलकत्ता जाकर अच्छे नंबरों से बीएससी की परीक्षा पास कर अपनी मेधाशक्ति का परिचय दिया। हालांकि उन्होंने अपनी मेधा को कॅरियर बनाने जैसे संकीर्ण काम में नहीं लगाया था। स्वाधीनता संग्राम का दौर था लिहाजा वे भी कूद पड़े उसमें। साथ ही साथ वे ज्योतिप्रसाद अग्रवाला की सांस्कृतिक गतिविधियों में भी शामिल हो गए। ज्योतिप्रसाद अग्रवाला द्वारा वर्ष १९३७ में तेजपुर में स्थापित किए गए सिनेमाहाल 'जोनाकी' और १९४८ में नगांव में स्थापित किए गए सिनेमाहाल 'जयश्री' को अंत तक हृदयानंद अग्रवाला ने जिस संघर्ष के बीच चलाए रखा था, उसी से उनकी सांस्कृतिक जवाबदेही का परिचय मिलता है। विभिन्न प्रकार की सुविधा-असुविधा, लाभ-नुकसान के बीच दोनों सिनेमाहालों को चलाए रखकर हृदयानंद अग्रवाला ने मानो रूपकुंवर ज्योतिप्रसाद अग्रवाला के सपनों को ही जिंदा रखा था।

१५ जुलाई १९४५ को हृदयानंद अग्रवाला की शादी गुवाहाटी की पद्मा अग्रवाला के साथ हुई। पद्मा स्वयं एक संभ्रांत परिवार की बेटी थी और उसका दांपत्य जीवन भी सीधा-साधा था। पद्मा को हृदयानंद अग्रवाला, रूपकुंवर ज्योतिप्रसाद अग्रवाला के अलावा अन्य दो और प्रतिभाशाली लोगों का सान्निध्य मिला। वे दो प्रतिभाशाली कलाकार थे, कलागुरु विष्णु प्रसाद राभा और नटसूर्य फणि शर्मा। इसी त्रिमूर्ति ने हकीकत में हृदयानंद अग्रवाला को फिल्म निर्माता के रूप में ढाला था। सन् १९५७ में हृदयानंद अग्रवाला ने शोणितपुर पिक्चर्स लिमिटेड के बैनर तले फणि शर्मा की 'धुमुहा' नामक फिल्म का निर्माण किया। बाद में उन्होंने 'केंचा सोन' (कच्चा सोना) नामक एक और फिल्म का भी निर्माण किया। वर्ष १९७५ में 'रूपकुंवर ज्योतिप्रसाद अग्रवाला और जयमती' नामक प्रसिद्ध वृत्तचित्र का निर्माण कर हृदयानंद अग्रवाला ने वृत्तचित्र निर्माता के रूप में भी ख्याति अर्जित की। उल्लेखनीय है कि इस वित्तचित्र का निर्देशन स्वयं डॉ. भूपेन हजारिका ने किया था। यह वृत्तचित्र आज भी असम के सांस्कृतिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। ज्योतिप्रसाद अग्रवाला के कला-

संस्कृति से जुड़े कार्यों को जिंदा रखना, ज्योतिप्रसाद अग्रवाला के आदर्शों को बनाए रखना और इन सभी को युवा पीढ़ी में बांट देना ही मानो हृदयानंद अग्रवाला की जिंदगी का मूल मकसद था। इसीलिए उन्होंने अपनी पत्नी के सहयोग से पद्मा-हृदयानंद सांस्कृतिक संग्रहालय की स्थापना की थी। इस संग्रहालय के माध्यम से पति-पत्नी ने ज्योतिप्रसाद अग्रवाला के उपयोग में लाई गई वस्तुओं तथा रूपकुंवर द्वारा संवारी-निखारी गई चीजों के संरक्षण, संवर्द्धन और प्रचार की हरसंभव कोशिशें कीं। इस संग्रहालय की सक्रियता के तहत वर्ष १९५३ में ज्योतिप्रसाद अग्रवाला द्वारा निर्मित फिल्म जयमती के लगभग नष्ट हो चुके प्रिंट को १९७५ में हृदयानंद अग्रवाला ने कलकत्ता जाकर स्वयं इनका रि-प्रिंट कराया था। इस संग्रहालय के माध्यम से १९९२ में ज्योतिप्रसाद अग्रवाला के जीवन और कार्यों से जुड़ी ढेर सारी सामग्री हृदयानंद अग्रवाला ने दिल्ली के संग्रहालय में जमा करवाई थी। इस अवसर पर दिल्ली के त्रिमूर्ति भवन में एक विशेष सभा का आयोजन किया गया था। इस सभा में उपस्थित ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित मामोनी रायसम गोस्वामी और असम साहित्य सभा के पूर्व अध्यक्ष नगेन सइकिया जैसे लोगों ने हृदयानंद अग्रवाला की खुले दिल से प्रशंसा की थी। हालांकि कोई यह भी सवाल खड़े कर सकता है कि हृदयानंद अग्रवाला ने सिर्फ ज्योतिप्रसाद अग्रवाला के आदर्शों को लोगों तक पहुंचाने का ही काम किया था अथवा अपने जीवन में भी उतारा था। जिन लोगों ने हृदयानंद अग्रवाला को बेहद करीब से देखा-जाना-पहचाना है, उनके लिए यह सवाल और इसका जवाब दोनों ही अप्रासंगिक हैं। दरअसल समन्वय के इस सेतु के एक सिरे पर यदि रूपकुंवर ज्योतिप्रसाद अग्रवाला थे तो दूसरे सिरे पर हृदयानंद अग्रवाला थे। बाहरी राज्यों से आए लोगों के वृहत्तर असमिया समाज में मिल जाने की जरूरत को ज्योतिप्रसाद की तरह हृदयानंद अग्रवाला ने भी महसूस किया था। ऐसी जरूरत को महसूस करने के बाद ही हृदयानंद अग्रवाला ने अपने व्यक्तित्व को एक असमिया के रूप में जिया और महसूस किया। उनका पूरा परिवार ही असमिया हो गया था। समन्वय और सहयोगिता में विश्वास करने वाले हृदयानंद अग्रवाला ने कभी भी प्रतियोगिता और विवाद के रास्ते पर कदम नहीं रखा। उन्हें इस युग का एक सच्चा समन्वय साधक भी कहा जा सकता है।

अच्छे नाटकों पर ही टिका है भ्राम्यमान थिएटर का अस्तित्व

असम में भ्राम्यमान थिएटर हमेशा से ही चर्चा का विषय रहा है। राज्य के सांस्कृतिक जगत में सबसे अधिक समृद्धशाली इस उद्योग की ताकत, विविधता, इसके साथ जुड़ी मानव संपदा, लोकप्रियता आदि विभिन्न कारणों के चलते राज्य का भ्राम्यमान पिछले कई सालों से लगातार चर्चाओं में है।

स्वाधीनता के पहले से ही नाट्य गतिविधियों का ऐतिहासिक स्थान रहे असम में आधुनिक नाट्यधारा का जन्म हो गया था। ब्रजनाथ शर्मा जैसे क्रांतिकारी कलाकार का स्पर्श पा आधुनिक नाट्यधारा को प्रवाह मिला। बाद के दिनों में लोक कलाकार अच्युत लहकर ने नटराज थिएटर की नींव रख आधुनिक भ्राम्यमान नाट्य उद्योग का शुभारंभ किया। उसके बाद से इस उद्योग, इस कर्मयज्ञ, इस सांस्कृतिक धारा को पीछे की ओर मुड़कर नहीं देखना पड़ा। भ्राम्यमान थिएटर लगातार असमिया समाज के दर्पण के स्वरूप में उल्लेखनीय काम करता आया है। हकीकत में यदि देखा जाए तो भ्राम्यमान थिएटर लंबे समय से जन-संपर्क का काम करता आ रहा है। यहां ध्यान देने वाली बात यह भी है कि हमारे जातीय जीवन के संक्रमण काल में असम में भ्राम्यमान थिएटर उद्योग संपूर्ण तौर पर विकसित हुआ था। नटराज थिएटर के बाद कोहिनूर थिएटर, आराधना, आवाहन तथा अन्य कई बड़े भ्राम्यमान थिएटर ग्रुपों का जन्म

हुआ। इन सभी थिएटरों ने अपने-अपने मंच पर असम की संस्कृति, इतिहास, असम के सामाजिक जीवन, यहां की विभिन्न समस्याएं और उनके संभावित समाधान आदि का मंचन कर लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया। भ्राम्यमान थिएटरों द्वारा मंचित किए जाने वाले नाटकों को देखने के लिए बड़ी संख्या में सभी तबके के लोग आने लगे और देखते-ही-देखते वे लोग असम की धरती पर चल रहे इस नाट्य आंदोलन में शामिल हो गए। इसकी मुख्य वजह यह थी कि भ्राम्यमान के मंच पर दर्शक स्वयं को खड़ा पाता था। यहां उसे अपने समाज, अपने ऐतिहासिक महत्त्व का अनुभव होता था। शोरागुरी चापरी, मणिकूट, नीलकंठ जैसे नाटकों को देखने के लिए थिएटर के प्रेक्षागृहों में मानो जनसमुद्र ही उमड़ पड़ता था। सिर्फ यही नहीं, भ्राम्यमान की खिड़की से असम की जनता को विश्व पटल तक झांकने का भी मौका मिला। नेपोलियन बोनापार्ट, क्लियोपेट्रा आदि चरित्रों को असम के नाट्य प्रेमियों ने भ्राम्यमान थिएटरों के मंचों पर साकार होते देखा। ऐसी स्थिति में राज्य का भ्राम्यमान सबसे प्रभावशाली जन-संपर्क के रूप में उभरकर सामने आया। मगर नब्बे के दशक के बाद से भ्राम्यमान जगत में आने वाले बदलाव जनता की नजरों में खटकने लगे। भ्राम्यमान मंच पर नाटक की गंभीरता-गहराई से अधिक तकनीकी चमत्कारों को अधिक महत्त्व दिए जाने लगा। इसी क्रम में दुर्घटनाग्रस्त टाइटैनिक, लेडी डायना की सड़क हादसे में मौत, हेलिकाप्टर, फ्लाईओवर आदि दृश्यों के प्रदर्शन को दर्शकों ने खूब सराहा। मंच पर 'सिनेमा' देखने वाले दर्शकों की होड़ लग गई। इसी के साथ-साथ और एक बात देखने को मिली। एक विशेष परिस्थिति में असमिया फिल्म और वीसीडी के कलाकारों का भ्राम्यमान थिएटर में आने का सिलसिला शुरू हुआ। इस सिलसिले ने भ्राम्यमान थिएटर के मंच पर 'सिनेमा' दिखाई जाने वाली प्रक्रिया में सोने में सुहागे का काम किया। नाट्य निर्मातागण इस नए माहौल में, नए कलाकारों को लेकर नए ढंग के नाटक दिखाने पर मजबूर हो गए। ऐसे नाटकों में वीसीडी अथवा चमकीले पर्दे के अभिनेता-अभिनेत्रियों को नाचने-गाने और सिनेमा जैसा अभिनय करने का मौका उपलब्ध कराना पड़ा। ऐसा करने पर इसका सीधा असर नाटकों की गहराई-गंभीरता पर पड़ा। नाटक का स्तर बदल गया और साथ-साथ खर्च भी कई गुणा अधिक बढ़ गया। इसका नतीजा यह हुआ कि भ्राम्यमान थिएटर मालिकों को अपने नाटक प्रदर्शन की कीमतों में भारी बढ़ोतरी करनी पड़ी। इसका अंतिम परिणाम यह निकला कि अपने यहां थिएटरों को आमंत्रित करने वाली समितियों को इस नाट्य प्रदर्शन की बढ़ी

कीमतों से निपटने के लिए टिकटों के मूल्यों में बढ़ोतरी करनी पड़ी। अर्थात् इस मूल्यवृद्धि का सीधा असर थिएटर-दर्शकों की जेब पर पड़ा।

मगर ऐसी स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रह सकी। एक समय ऐसा भी आया जब राज्य के विभिन्न हिस्सों में भ्राम्यमान थिएटरों को आमंत्रित किया जाना लगभग बंद-सा हो गया। राज्य के प्रख्यात रंगकर्मियों का मानना है कि राज्य में भ्राम्यमान थिएटर के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए बहुत जरूरी है, इसके चरित्र को बनाए रखना। थिएटर के जिस चरित्र के दम पर इस उद्योग ने ऊंचाइयों को छुआ था, हमें एक बार फिर उसी चरित्र को अपनाना होगा। हमें याद रखना चाहिए कि बात चाहे किसी व्यक्ति विशेष की हो अथवा किसी संस्थान-प्रतिष्ठान की, उसकी सामाजिक स्वीकार्यता उसके विशेष चरित्र पर ही निर्भर करती है। असम में भ्राम्यमान थिएटर उद्योग को इसके सामाजिक जागरूक जन-संपर्क वाले चरित्र के चलते ही जनता-जनार्दन द्वारा स्वीकार किया गया था। भ्राम्यमान थिएटर का यह चरित्र जिंदा रहे, इसके लिए जरूरी है अच्छे नाटकों की। टाइटैनिक, लेडी डायना, हेलिकाप्टर, फ्लाईओवर अथवा वीसीडी कलाकारों के नृत्य-गीत देखने के लिए सामाजिक तौर पर भले ही दर्शकों की भीड़ इकट्ठा हो जाए, मगर यह स्थायी नहीं हो सकती। लिहाजा यह जरूरी है कि बजाए तकनीकी चमत्कारों और कलाकारों की फौज के भरोसे रहने के, असम के भ्राम्यमान थिएटर को अच्छे नाटकों के दम पर जिंदा रखने की कोशिश की जाए। इसी तरह से भ्राम्यमान को एक नई जिंदगी दी जा सकती है। असम के भ्राम्यमान थिएटर के मंच पर यहां की कला-संस्कृति, इतिहास-ऐतिहासिक घटनाएं आदि का मंचन करना ही होगा। दर्शकों को मंच पर उसके खुद का, उसके समाज का पता मिलना ही होगा। वरना इतने बड़े उद्योग का संभवत: कोई भविष्य बचा नहीं रह जाएगा।

पाठशाला और भ्राम्यमान थिएटर

निचले असम के बरपेटा जिले का एक छोटा-सा नगर है पाठशाला। पाठशाला भले ही जिले के बजाली महकमे का सदर हो, मगर भौगोलिक दृष्टि से पाठशाला बहुत ही छोटा है। इसके बावजूद असम के इस छोर से उस छोर तक के लोग पाठशाला को इसकी सांस्कृतिक विरासत के कारण एक सांस्कृतिक नगरी के तौर पर जानते-पहचानते हैं। जिस कारण से पाठशाला की पहचान एक सांस्कृतिक नगरी के तौर पर बनी है, वह वजह है भ्राम्यमान थिएटर।

भ्राम्यमान थिएटर की नगरी के रूप में पाठशाला का यदि हम इतिहास खंगालने जाएं तो हमें स्वाधीनता से पहले के कालखंड में झांकना होगा। तब के दिनों में पाठशाला के निकटवर्ती जालिखाटा गांव में सांस्कृतिक हृदय के व्यक्ति खर्गेश्वर शर्मा ने बांस से बनी मशाल जलाकर खुले गीतों के रूप में एक प्रकार के नाट्य आंदोलन का शुभारंभ किया था। उसके बाद संतराम चौधरी जैसे लोगों ने इस नाट्य आंदोलन को गति प्रदान की। ब्रजनाथ शर्मा के नाट्य आंदोलन का भी पाठशाला नगर और नगरवासियों पर खासा प्रभाव पड़ा था।

इन्हीं सब के परिणामस्वरूप वर्ष १९६३ में पाठशाला में पहली भ्राम्यमान थिएटर नाट्य गोष्ठी 'नटराज थिएटर' का जन्म हुआ। अच्युत लहकर के सबल नेतृत्व में गठित इस नाट्य गोष्ठी ने विभिन्न क्षेत्रों में एकाधिक प्रभावशाली कदम भी उठाए थे। नटराज थिएटर ने राज्य के बाहर जाकर अखिल भारतीय स्तर पर भी नाट्य मंचन किया था। इसके अलावा नाटक के बीच में ही मंच पर सफेद पर्दा खींच चलचित्र (सिनेमा) के प्रासंगिक दृश्यों को जोड़कर नटराज थिएटर ने ही सिने-थिएटर की अवधारणा को जन्म दिया था।

नटराज थिएटर के बाद ही पाठशाला में सबसे बड़ी भ्राम्यमान नाट्य गोष्ठी कोहिनूर थिएटर का गठन किया गया। रतन लहकर और कृष्ण राय की संयुक्त देख-रेख में आरंभ हुए कोहिनूर थिएटर की संपूर्ण जिम्मेदारी बाद में रतन लहकर ने संभाल ली। कोहिनूर थिएटर के कई स्वस्थ व सुरुचिपूर्ण नाटकों ने असम के भ्राम्यमान थिएटर को एक अंतर्राष्ट्रीय पहचान दिलवाई। बेनहुर, क्लियोपेट्रा, इलियाश, उडीसी जैसे नाटकों को विश्व के अन्य कई देशों के निवासियों ने देखा व सराहा। 'टाइटैनिक' के असमिया रूपांतर ने तो कोहिनूर थिएटर की लोकप्रियता के सारे कीर्ति स्तंभों को ही ध्वस्त कर दिया। कोहिनूर थिएटर सिर्फ रामायण, महाभारत के पात्रों को ही अपने मंच पर लेकर नहीं आया, उसने कला गुरु विष्णु प्रसाद राभा जैसे चरित्र को भी अपने मंच पर खड़ा करने में सफलता हासिल की।

इधर कोहिनूर थिएटर का संयुक्त मालिकाना छोड़कर आए कृष्ण राय ने 'आवाहन थिएटर' के नाम से एक नए थिएटर गोष्ठी की स्थापना की। डॉ. भवेंद्र नाथ सइकिया के एक नाटक को नियमित रूप से मंचित कर आवाहन थिएटर ने भ्राम्यमान थिएटर की एक नई धारा का सूत्रपात किया। आवाहन थिएटर के मंच पर मंचित किए गए नाटक 'दीनबंधु' पर आधारित फिल्म को राष्ट्रीय पुरस्कार तक से नवाजा गया। इसके अलावा इस फिल्म ने अन्य कई और भी पुरस्कार हासिल किए। आवाहन थिएटर के मंच पर मंचित डॉ. भवेंद्र नाथ सइकिया का नाटक 'नीलकंठ' की आज भी नाट्य प्रेमियों में चर्चा होती है।

आवाहन थिएटर से पूर्व पाठशाला में अन्य एक नाट्य गोष्ठी 'आराधना थिएटर' का जन्म हुआ। आज यह नाट्य गोष्ठी अपने अस्तित्व में नहीं है, मगर 'पृथ्वीर प्रेम' नाटक के माध्यम से राष्ट्रीय पुरस्कार हासिल करने वाले असम के एकमात्र नाट्य दल के रूप में आराधना थिएटर की प्रतिष्ठा आज भी कायम है। आवाहन थिएटर के बाद पाठशाला में और एक नाट्य गोष्ठी की स्थापना हुई, जिसका नाम 'अनिर्वाण' थिएटर

था। इसके अलावा विष्णु ज्योति, श्रीश्री परिहेश्वर आदि कई नाट्य गोष्ठियां पाठशाला अथवा इसको केंद्र कर अस्तित्व में आईं। इन नाट्य गोष्ठियों का स्थानीय व सार्वजनिक प्रभाव व योगदान उल्लेखनीय है। सबसे पहली बात तो यह कि ये थिएटर गोष्ठियां लगातार, बिना रुके असमिया संस्कृति को समृद्ध करती आ रही हैं। संपूर्ण असमिया नाटकों के मंचन से चलने वाले ये थिएटर नित नए-नए नाट्यकारों को पैदा करने में लगे हुए हैं। इसके साथ-साथ नाटक से संदर्भित नए-नए परीक्षण-शोध आदि का मौका उपलब्ध कराते हैं। ऐसे ही मौकों के सद्व्यवहार के फलस्वरूप असम के भ्राम्यमान थिएटर को विश्व पटल पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने का मौका मिला है। पाठशाला के सांस्कृतिक माहौल को सुरुचिपूर्ण बनाए रखने में भी इन थिएटर गोष्ठियों का खासा योगदान रहा है। पाठशाला में इन थिएटरों के जब नाटक मंचित किए जा रहे होते हैं, उन्हें देखने के लिए लोगों की जैसी भीड़ उमड़ती है, उसे बिना देखे इस बात की कल्पना तक नहीं की जा सकती। ऐसे परिवेश का सामाजिक प्रभाव भी अच्छा-खासा पड़ता है। राज्य में जब सांस्कृतिक वातावरण होता है, तब लोगों के दिल भी संस्कृतिमुखी हो उठते हैं। ऐसे वातावरण में बहुत-सी सामाजिक चिंताएं, अशांति आदि अपने आप ही दूर हो जाती है। पाठशाला में भी ऐसा ही देखने को मिलता है। देश भर अथवा राज्य भर में फैली अशांति के बीच नगर का माहौल सदैव सौहार्दपूर्ण, स्वस्थ, आपसी प्रेम, भाईचारे वाला बना रहता है। पाठशाला के भ्राम्यमान थिएटर ने युवा पीढ़ी पर भी साकारात्मक प्रभाव डाला है।

मगर पूरी तरह तथा स्थायी तौर पर यदि देखा जाए तो पाठशाला के भ्राम्यमान उद्योग का आर्थिक प्रभाव सामाजिक प्रभाव से अधिक रहा है। पाठशाला के सभी थिएटरों ने राज्य के कई हजार बेरोजगार युवकों को रोजगार उपलब्ध करवाया है। इसके अलावा जिन दिनों नाटकों का मंचन हो रहा होता है, उन दिनों भ्राम्यमान थिएटर उन स्थानों के बहुत से लोगों को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से रोजगार का मौका उपलब्ध कराते हैं। भ्राम्यमान नाट्य गोष्ठियों ने पाठशाला में भी स्थानीय रूप से कर्म-संस्कृति का सृजन किया है। इस छोटे से शहर के हर एक परिवार के सदस्यों में इस बात को लेकर उत्सुकता बनी रहती है कि कौन-सा थिएटर कौन-सा नाटक मंचित करने जा रहा है।

दरअसल पाठशाला का प्राय: हर परिवार पूरी संवेदना के साथ भ्राम्यमान नाट्य आंदोलन के साथ जुड़ा हुआ है। हो सकता है बाहरी लोगों को भ्राम्यमान थिएटर के साथ पाठशालावासियों का यह जुड़ाव बिना वजह का लगे, मगर पाठशाला के लोगों

के लिए इस जुड़ाव की जरूरत भी है। देखा जाए तो भ्राम्यमान थिएटर एक निजी उद्योग है। इस उद्योग से होने वाले लाभ अथवा नुकसान के लिए दरअसल संबंधित मालिक पक्ष के अलावा अन्य किसी व्यक्ति को चिंतित होने की जरूरत नहीं है, मगर पाठशाला के लोग ऐसा होने पर चिंतित होते हैं। किसी साल यदि किसी नाट्य दल को नुकसान हो जाता है तो नगरवासी उस नुकसान की वजह से चिंतित भी होते हैं और दुखी भी। वहीं, जब किसी थिएटर द्वारा सफलता के झंडे गाड़े जाने की खबर आती है तो पाठशाला के लोग खुश होते हैं। ऐसे आत्मीय संबंध हैं पाठशालावासी और भ्राम्यमान थिएटर के बीच। थिएटर के साथ पूरी संजीदगी के साथ जुड़े बिना इस आत्मीय संबंध की संवेदनशीलता को महसूस नहीं किया जा सकता। हर एक पाठशालावासी सदैव यही कामना करता है कि राज्यवासी इसी तरह भ्राम्यमान थिएटर को अपना प्यार-स्नेह-आशीर्वाद देते रहें, ऐसे ही सराहते रहें।

मारवाड़ी होने का मतलब व्यापारी होना नहीं है

'मारवाड़ी असम को लूटकर खा गए', 'राजस्थान से असम को लूटने के लिए आए हैं', 'मारवाड़ियों के लिए ऐसा हो गया, मारवाड़ियों के लिए वैसा हो गया' जैसे ताने अक्सर असम में निवास करने वाले प्रवासी मारवाड़ियों को समय-समय पर सुनने पड़ते हैं। जब भी महंगाई का प्रसंग आता है पूरा-का-पूरा दोष मारवाड़ी व्यापारियों पर मढ़ दिया जाता है। सरकारी बजट में किसी वस्तु की कीमत बढ़ जाए तो मारवाड़ियों को ही जिम्मेदार ठहराया जाता है। बाजार में किसी वस्तु की किल्लत हो जाए तो मारवाड़ियों का ही दोष। झट से कह दिया जाता है कि मारवाड़ियों ने बाजार से सामान गायब कर दिया। कुल मिलाकर 'जितने दोष, नंद घोष' की तर्ज पर किसी भी व्यावसायिक क्षेत्र में एक पक्षीय ढंग से मारवाड़ी व्यापारियों को जिम्मेदार ठहराया जाता रहा है। व्यापार से जुड़े किसी भी मामले में मारवाड़ी के शामिल होने अथवा व्यापार को मारवाड़ियों द्वारा नियंत्रित किए जाने की गलतफहमी आज भी लोगों के मन से निकली नहीं है। मगर क्या हमने कभी यह भी सोचा है कि किसी व्यावसायिक घटना में मारवाड़ी शामिल है भी या नहीं। व्यापार में अन्य किसी जाति-समुदाय के व्यक्ति द्वारा गलत तरीके से मुनाफा कमाने पर भी बदनामी सिर्फ मारवाड़ी समुदाय के व्यापारियों को ही झेलनी पड़ती है। इस मानसिकता की वजह

से मारवाड़ियों के मन में कैसी ठेस पहुंचती होगी, यह सोचने की संभवत: किसी को भी फुर्सत नहीं है। किसी के मन में ऐसी भावना जागृत होने पर भी वह तथाकथित जातीयतावादी संगठनों के कारण अपना मुंह नहीं खोल पाते। इस मुद्दे पर चर्चा तो जरूर होनी चाहिए।

मारवाड़ी असम में व्यापार करते हैं-यह सच है। मगर असम में सिर्फ व्यापार ही करने आए हैं यह बात सच नहीं है। देश के अन्य राज्यों में भी कम व्यापारी नहीं हैं। राजस्थान से आकर असम में निवास करने वाले अधिकांश मारवाड़ी समुदाय के लोग अब तक असमिया संस्कृति के साथ पूरी तरह से घुल-मिल गए हैं। ऐसे बहुत से मारवाड़ी हैं जिनके बच्चों ने तो आज तक राजस्थान को देखा तक नहीं है। मारवाड़ी युवा पीढ़ी अन्य समुदाय के युवाओं की तरह ही उनके साथ मिलजुल कर दुर्गा पूजा, दीपावली, बिहू सहित अन्य सभी त्योहार मनाती है। असमिया संस्कृति और समाज में घुल-मिल जाने के बावजूद मारवाड़ियों को बाहर से आए व्यापारियों के रूप में देखा जाता है। यह एक दुखद बात है।

असम के प्रात: स्मरणीय व्यक्तियों में नि:संदेह रूपकुंवर ज्योतिप्रसाद अग्रवाला का स्थान पहला है। इस महान कलाकार के पुरखे असम में कहां से आए थे यह सभी को पता है। असम के सांस्कृतिक जगत की एक भी ऐसी दिशा नहीं है, जो ज्योतिप्रसाद के योगदान से प्रकाशित नहीं हो रही हो। ज्योतिप्रसाद के पुरखे राजस्थान से आने के बावजूद उनका मूल मकसद यहां व्यापार करना नहीं था। रूपकुंवर ने असमिया संस्कृति के साथ एकाकार हो जाति के गठन के ही अहमियत दी थी। असमिया साहित्य में उनका जो स्थान है, उसका बयान शब्दों में नहीं किया जा सकता। सिर्फ ज्योतिप्रसाद ही नहीं और बहुत से लोग हैं, जिनके पुरखे राजस्थान से आए थे, मगर वह लोग असमिया के रूप में स्वयं का परिचय देकर गौरव का अनुभव करते हैं। हमें महान कलाकार के प्रसंग का उल्लेख इसलिए करना पड़ रहा है, क्योंकि जो लोग हमेशा मारवाड़ियों को व्यापारी ही समझते आए हैं, उनको समझना होगा कि सभी मारवाड़ी व्यापार नहीं करते। साहित्य-संस्कृति के साथ भी ओत-प्रोत ढंग से जुड़े हुए हैं।

लोगों में ऐसी एक गलत धारणा है कि असम के व्यापारिक जगत को मारवाड़ी लोग ही नियंत्रित करते हैं। मगर क्या मारवाड़ी राज्य की सभी सामग्री का क्रय-विक्रय करते हैं। साग-सब्जी, फल-मूल, पान-तांबुल, धान-मछली जैसे बाजारों में मारवाड़ियों की उपस्थित नहीं के बराबर है। ऐसे बाजारों पर मुख्यत: यहां के मूल

लोगों का ही नियंत्रण रहा है। अब यह सवाल खड़ा होता है, क्या इन सभी सामग्री के मूल्यों में बढ़ोतरी नहीं होती। बाजार में असमिया पान-तांबुल के क्या भाव हैं अथवा सब्जी व मछली बाजार में महंगाई की कैसी आग लगी हुई है, यह किसी से भी छिपा हुआ नहीं है। एक बार यह भी सोचा जाना चाहिए कि ऐसे बाजारों में होने वाली महंगाई किसके इशारों पर होती है। बाजार में महंगाई करने वाले दलाल कौन हैं, उसका विचार न कर सिर्फ मारवाड़ियों को कटघरे में खड़ा करने के लिए तो मानो कुछ लोग हमेशा ही तैयार खड़े मिलते हैं। बाजार में महंगाई छाते ही मारवाड़ियों की तो मानो शामत ही आ जाती है। जबकि पूरे मामले का यदि गंभीरता से अध्ययन किया जाए तो देखा जाता है कि ऐसे बाजारों में स्थानीय लोग ही शोषण कर रहे हैं। असमिया जाति की समृद्धि व परंपरा की वाहक सुवालकुची के पाट-मूंगा, एड़ी के कपड़ा बाजार पर इतने दिन सभी को गर्व था। मगर धीरे-धीरे बाजार में बाहरी लोगों का प्रवेश हुआ। बाहरी राज्यों से आए कुछ व्यापारी पाट-मूंगा तैयार करने की विधि सीखकर उनको ही नुकसान पहुंचा रहे हैं। वहां कितने मारवाड़ी हैं। क्या यह सब दलालों का किया धरा नहीं है?

मारवाड़ी व्यापार के जरिए पैसे कमाकर सिर्फ तिजोरियां ही भरते हैं, ऐसी बात नहीं है। बात जब दान-पुण्य, चंदे-सार्वजनिक निर्माण की आती है, तब भी ऐसे मारवाड़ी सबसे आगे रहते हैं। मठ-मंदिर से शुरू कर राज्य के विभिन्न स्थानों पर स्कूल-कॉलेज, पुस्तकालय आदि की स्थापना में भी मारवाड़ियों का भारी योगदान रहा है। किसी बिहू मंच पर यदि किसी मारवाड़ी को मंच के उद्घाटन के लिए खड़ा कर दिया जाए तो हो-हल्ला शुरू हो जाता है, विवाद पैदा हो जाता है। जबकि राज्य के विभिन्न स्थानों पर आयोजित होने वाले बिहू के लिए मारवाड़ियों से ही अधिक चंदा वसूला जाता है। कितनी अजीब बात है, मारवाड़ियों से चंदा लेने में किसी को कोई आपत्ति नहीं है, मगर जब उसी मारवाड़ी को मंच पर खड़ा किया जाता है तो विवाद शुरू हो जाता है। यदि एक मारवाड़ी से लिए गए चंदे क दम पर उत्सव का पालन किया जा सकता है तो उस मारवाड़ी से किसी मंच का उद्घाटन कराने पर कौन-सा महाभारत अशुद्ध हो जाता है।

दरअसल, अब ऐसी मानसिकता को बदले जाने का समय आ गया है। जब तक ऐसी मानसिकता के चलते मारवाड़ियों के खिलाफ तीखे बयान अथवा टीका-टिप्पणी होती रहेगी, तब तक दूरियां भी बढ़ती जाएंगी। वैश्वीकरण के युग में जीने का दावा करने वाले हम यदि अपनी ऐसी ही मानसिकता का शिकार होते रहे तो टकराव

अनिवार्य है। हम सभी को यह याद रखना चाहिए कि मारवाड़ी होने का मतलब व्यापारी होना अथवा अमीर होना नहीं है। ऐसे भी बहुत से मारवाड़ी मिल जाएंगे, जिनकी हालत किसी भिखारी से कम नहीं है। मारवाड़ियों की दुकानों पर काम करने वाले अधिकांश लड़के मारवाड़ी होते हैं। जो व्यक्ति मारवाड़ियों को सिर्फ व्यापारी कहकर ताना मारते हैं, उनको कभी-कभी दुकानों में काम करने वाले उन मारवाड़ी लड़कों के बारे में भी सोचना चाहिए। ऐसे बहुत से लड़कों को तो दो वक्त की रोटी भी बहुत मुश्किल से मिलती है, बहुत से लड़के तो स्कूल का मुंह तक नहीं देख पाते। कुछ लोगों को अपनी बेटियों की शादी करने के लिए पुश्तैनी संपत्ति तक बेचनी पड़ती है। ऐसे मारवाड़ियों की बातें कोई क्यों नहीं करता? अब ऐसी बातों का विश्लेषण करने का भी समय आ गया है। यदि मानवीय दृष्टिकोण के साथ मुद्दे का विश्लेषण किया जाए तो सभी समस्याओं का समाधान संभव है।

महंगाई की जड़ कहां है? इस बारे में यदि बारीकी से विश्लेषण किया जाए तो इसके पीछे की कहानी स्पष्ट हो सकती है। उग्रवाद प्रभावित एक राज्य के व्यापारियों को अपनी जान बचाने के लिए उग्रवादियों को मासिक अथवा वार्षिक तौर पर पैसे चुकाने पड़ते हैं। कुछ संगठनों का भी साफ-साफ कहना है कि असम में यदि व्यापार-वाणिज्य करना है तो उनके संगठनों को चंदा देना ही होगा। इन सारी बातों की सबको जानकारी हैं। मगर जो लोग ऐसा कर रहे हैं क्या वह लोग असमिया नहीं हैं? महंगाई का विरोध करने के लिए विभिन्न प्रकार के आंदोलन करने वालों में से बहुत से लोग विरोध-प्रदर्शन करने के लिए मारवाड़ियों से ही पैसे अथवा खाने की वस्तुएं लेते हैं। (हालांकि यह बात एक-आध संगठनों पर ही लागू होती है) कुछ लोग तो अपने दोनों हाथों में लड्डू रखते हैं। एक ओर तो वह लोग मारवाड़ियों के खिलाफ लोगों को भड़काते हैं, वहीं दूसरी ओर अंदर ही अंदर मारवाड़ी के विभिन्न संगठनों से मधुर संबंध भी बनाकर रखते हैं। ऐसे अवसरवादी लोगों के कारण कभी-कभी समाज में टकराव भी पैदा होता है। हमारे यहां ऐसी स्थिति पैदा न हो, इसके लिए हम सभी को सतर्क रहने की जरूरत है। मारवाड़ियों को असमिया जाति का हिस्सा बनाएं। मारवाड़ी सिर्फ व्यापार करने के लिए ही असम में नहीं आए हैं। असम की हवा-पानी का सेवन कर असमिया जाति के सुख-दुख में सहभागी बनने के लिए आए हैं और यह मौका तो मारवाड़ियों को मिलना ही चाहिए। चलिए भाईचारे की भावना के साथ हम एक ऐसे समाज के गठन का संकल्प लें, जिसमें विद्वेष के लिए जरा भी जगह नहीं होगी।

भ्राम्यमान 50 : कृष्ण राय 50

असम के भ्राम्यमान नाट्य आंदोलन को गतिवान रखने में जिन कई लोगों ने अनंत योगदान दिया है, उनमें कृष्ण राय का नाम सबसे पहले आता है। भ्राम्यमान थिएटर को उद्योग के रूप में गढ़कर एक विशेष पहचान के साथ विश्वपटल पर स्थापित करने वालों में से एक हैं कृष्ण राय। भ्राम्यमान के बहुत से उत्थान-पतन के गवाह रहे इस नाट्यकर्मी ने अपने पचास वर्षों की नाट्य यात्रा पूरी कर स्वर्ण जयंती वर्ष में कदम रखा है। नटराज थिएटर के माध्यम से नाट्य जगत में पदार्पण करने वाले कृष्ण राय द्वारा भ्राम्यमान जीवन के पचास वर्ष पूरे करना नि:संदेह असम के सांस्कृतिक जगत की एक उल्लेखनीय घटना है। श्री राय के भ्राम्यमान जीवन के बारे में जानने के लिए हमें उनके पचास वर्षीय नाट्य जीवन की परिक्रमा करनी होगी।

2 अक्टूबर 1963 को नटराज थिएटर की स्थापना हुई, इससे पहले भ्राम्यमान थिएटर के संबंध में किसी को जानकारी तक नहीं थी। भ्राम्यमान के पितामह कहे जाने वाले अच्युत लहकर ने भ्राम्यमान नाट्य दल की स्थापना की थी। इस नाट्य दल का सचिव था एक युवक। गरीबी में दिन गुजार रहा यह युवक चिट्ठी-पत्री भेजने-मंगवाने के अलावा हिसाब रखने का काम करता था और अपने इस काम से समय निकालकर वह अभिनय भी करता था। नटराज थिएटर के पहले वर्ष मंचित किए गए नाटकों में थे 'भोगजरा', 'जेरेंगा सती', और 'हैदर अली'। कृष्ण राय ने 'भोगजरा' और 'हैदर अली' दोनों नाटकों में दो अलग-अलग चरित्रों का अभिनय किया था।

दूसरे साल उसे लाइट्समैन की जिम्मेदारी सौंपी गई। यह थी कृष्ण राय के भ्राम्यमान जीवन की शुरूआत। हालांकि पहले दो साल भ्रम्यमान में काम करने के बाद उन्होंने कॉलेज में दाखिला लिया। उनके सामने अजीब-सी स्थिति थी। एक ओर भ्राम्यमान के प्रति आकर्षण और दूसरी ओर पेट भरने के लिए दो वक्त की रोटी जुटाने की

चुनौती। 1966 में वे पुन: भ्राम्यमान जगत में लौट आए। इस बार वे पूर्वज्योति थिएटर में शामिल हुए। उन्होंने सात साल तक पूर्वज्योति में संपादन एवं छाया-प्रकाश संपादक की जिम्मेदारी संभाली। इसी तरह से वे कदम-दर-कदम भ्राम्यमान जीवन में उतरते गए। धीरे-धीरे जनता में भी भ्राम्यमान लोकप्रिय होने लगा और इसका दायरा भी बढ़ने लगा। स्थिति ऐसी आई जब कई थिएटर नाटक मंचित करने लगे थे। इसी सूची में रूपकुंवर थिएटर, कोहिनून थिएटर भी शामिल हो गए। 1974 में रूपकुंवर थिएटर में काम करने के बाद 1975 से वे लगातार तीन वर्ष तक रतन लहकर के कोहिनूर थिएटर में काम करते रहे।

1980 में कृष्ण राय ने आवाहन थिएटर की स्थापना की। उसके बाद से उन्हें सफलता के लिए कभी भी पीछे की ओर मुड़कर नहीं देखना पड़ा। आवाहन थिएटर के पहले साल मंचित नाटकों में थे प्रफुल्ल बोरा का 'काजीरंगार बाघ', 'स्नेहबंधन', 'अग्निकन्या' और अब्दुल मजीद का 'जीवन मृत्यु'। भ्राम्यमान को आज इस स्तर तक ले जाने वाले भ्राम्यमान के पितामाह अच्युत लहकर, रतन लहकर और कृष्ण राय को आज तक हम वह स्वीकृति नहीं दे पाए, जो इन सभी को मिलनी चाहिए थी। ढेरों विघ्न-बाधाओं के बीच भ्राम्यमान की जययात्रा के मार्ग को सुगम बनाए रखने वाले ये लोग सदैव असम के सांस्कृतिक जगत में उज्ज्वल नक्षत्र की भांति झिलमिलाते रहेंगे। भ्राम्यमान थिएटर को छोड़ आज असमिया संस्कृति का मानचित्र बनाने की कल्पना तक नहीं की जा सकती। भ्राम्यमान थिएटर के उद्योग के रूप में स्थापित होने के बाद भी राज्य सरकार ने क्यों अभी तक इसे उद्योग का दर्जा नहीं दिया, यह सवाल पूछने पर कृष्ण राय ने भारी नाराजगी के साथ जवाब दिया- भ्राम्यमान को विश्वपटल पर जगह मिली, इंग्लैंड से विदेशी लोगों ने असम आकर भ्राम्यमान थिएटर को देखा-समझा-जाना। भ्रम्यमान की तकनीकी दक्षता देख विस्मृत रह गए थे बीबीसी के पत्रकार। भ्राम्यमान थिएटर आज एक शोध का विषय बना हुआ है। सैकड़ों लोगों के जीविकोपार्जन का माध्यम है भ्राम्यमान। कलाकार, तकनीशियनों के जीवन निर्वाह के अलावा और बहुतों को व्यापारिक फायदा पहुंचता है भ्राम्यमान से। फिर भी सरकार द्वारा इसे उद्योग का दर्जा नहीं दिया जाना हमें हताश करता है। उन्होंने उम्मीद जताते हुए कहा कि नई पीढ़ी को भ्राम्यमान के प्रति आकर्षित करने के लिए सरकार शीघ्र ही इसे उद्योग का दर्जा प्रदान करेगी।

इन नाट्यकर्मी, निर्माता, अभिनेता, संगठक के 50 सांस्कृतिक वर्षपूर्ति के मौके पर हमारी ओर से ढेर सारी शुभकामनाएं। इनकी सांस्कृतिक यात्रा जारी रहे....।

जातीय दंगे : भ्राम्यमान थिएटर की यात्रा और कुछ प्रासंगिक चर्चाएं

अगस्त के तीसरे सप्ताह से ही कई थिएटर नाटक का मंचन प्रारंभ कर देते हैं। अगस्त से दिसंबर तक के समय को भ्राम्यमान नाटक मंचन के लिए उपयुक्त समय माना जाता है, क्योंकि इस अवधि में उत्सव, त्योहार अधिक होते हैं। आमतौर पर किसी स्थान पर आयोजित पर्व को केंद्र बिंदू बनाकर ही नाटक दलों को नाट्य मंचन के लिए आमंत्रित किया जाता है। उत्सव के मौके पर दर्शक भी थिएटर के प्रेक्षागृह में बैठ नाटक के माध्यम से अपनी खुशी को दुगुनी करते हैं। मगर २०१३ में भ्राम्यमान थिएटर की यात्रा के प्रारंभ से ही शंकाओं के बादल मंडराने लगे थे, क्योंकि असम तब भी ज्वालामुखी बना हुआ था। राज्य के हर एक हिस्से में हिंसा की आग सुलग रही थीं। स्थिति ऐसी है कि किसी भी स्थान पर लोग निडर हो अपने घरों से निकलने की स्थिति में नहीं थीं। कोई यदि किसी कार्यवश घर से बाहर निकलता भी था तो जब तक वह वापस नहीं लौटता, उसके घरवाले चिंता में डूबे रहते हैं। मौजूदा समय में असम के जातीय दंगों ने जो भयावह रूप धारण किया है, इससे पहले ऐसी कोई छवि याद नहीं आती। ऐसे दंगों ने सिर्फ मानव संसाधनों को ही ध्वस्त नहीं किया है, बल्कि राज्य के आर्थिक-सांस्कृतिक जगत को भी भारी नुकसान पहुंचाया है। इस अवधि में थिएटर नाटक मंचन के लिए राज्य के विभिन्न हिस्सों में जाते हैं। मगर इस बार सफर की शुरुआत में ही बहुत से आयोजक भ्राम्यमान थिएटरों को नाटक प्रदर्शन के लिए आमंत्रित करने के बाद संकट में फंस गए लगता है। क्योंकि थिएटर के प्रेक्षागृह में यदि दर्शक ही नहीं होंगे, तो फिर नाटक का मंचन असंभव है। ऐसी स्थिति में दोनों पक्षों को ही नुकसान उठाना पड़ेगा।

राज्य में आज के दिन छोटे-बड़े करीब चालीस भ्राम्यमान थिएटर हैं, कुछ थिएटरों ने तो अपनी तैयारियां तक पूरी कर ली हैं। एक थिएटर में करीब डेढ़ सौ से दो सौ तक कलाकार-तकनीशियन, कर्मचारी रहते हैं। इस तरह से यदि देखा जाए तो 8 से 10 हजार लोग इस उद्योग के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए हैं। अर्थात् भ्राम्यमान

थिएटर के चलते लगभग दस हजार परिवारों का पेट चलता है। राज्य का अन्य कोई दूसरा ऐसा उद्योग नहीं है, जिसके साथ इतने लोग जुड़े हुए हैं। इसलिए सभी ने थिएटर को अपना माना है। इतनी भारी संख्या में लोगों का पेट भरने के लिए उद्योग को चलाए रखने के लिए नाट्य मंचन करना ही होगा। नाट्य मंचन के बिना थिएटर कमाई नहीं कर पाएगा। मौजूदा समय में राज्य की जो स्थिति है, उसे देखकर नहीं लगता कि सही तरीके से नाट्य मंचन किया जा सकता है। कई थिएटर महानगर के आस-पास नाटक मंचन कर रहे हैं, मगर जब बाहर जाने की बात उठती है तो कई सवाल पैदा हो जाते हैं। कोकराझाड़, बंगाईगांव, धुबड़ी आदि जिलों की बात छोड़ भी दें तो राज्य के अन्य जिलों में भी इसका प्रभाव पड़ा है। आज कोई संगठन बंद बुला रहा है तो कल कोई दूसरा बंद का आह्वान करने में लगा है। हिंसा की आग फैल रही है। फलस्वरूप थिएटरों को भी नुकसान उठाना पड़ रहा है। कई स्थानों पर कार्यक्रम रद्द करने जैसी स्थिति पैदा होने से शंकाएं जन्म लेने लगी हैं। मगर ध्यान देने वाली बात यह है कि नाट्य मंचन नहीं होने पर भी कलाकारों को पैसे देने पड़ेंगे, दैनिक खर्च अपनी जगह पर है। ऐसे भी एक थिएटर में प्रति दिन कम से कम 15 से 20 हजार रुपए का खर्च आता है। थिएटर वर्ष भर में सात-आठ महीने तक ही नाट्य मंचन करते हैं। इसमें प्राकृतिक आपदा भी शामिल है। ऐसे में यदि हिसाब किया जाए तो सात महीने में दो सौ दिन ही नाटक का प्रदर्शन हो पाता है। यदि अबकी बार राज्य की परिस्थिति ऐसी ही बनी रही तो भ्राम्यमान थिएटर को भारी नुकसान का सामना करना पड़ेगा, जिसका प्रभाव सिर्फ निर्माता पर ही नहीं, कम-से-कम दस हजार परिवारों पर भी पड़ेगा। सांस्कृतिक जगत का जो नुकसान होगा, वह अलग है। थिएटर का आनंद सभी जाति, संप्रदाय के लोग उठाते हैं, लिहाजा ऐसे एक समन्वय जगत के नुकसान होने का मतलब है, सभी का नुकसान होना। किसी भी थिएटर का निर्माता कलाकार-तकनीशियन, कर्मचारियों को बैठाए रख बीस हजार रुपए प्रति दिन खर्च नहीं कर सकता। महीने में छह-सात लाख रुपए का नुकसान उठाकर थिएटर चलाने वालों की संख्या एक-दो ही है। इसके अलावा स्थिति यदि ऐसी ही बनी रही तो बहुत से थिएटरों का साल के बीच में ही बंद हो जाना तय है। इस उद्योग को बचाए रखने की जिम्मेदारी हम सभी की है। राज्य में शांति की स्थापना हो। आइए हम सभी मिल-जुलकर रहें। सभी एक ही प्रेक्षागृह में नाटक का आनंद लेकर इस उद्योग को जिंदा रखने में मदद करें। याद रखें, इस उद्योग के साथ सभी जाति-संप्रदाय के लोग जुड़े हुए हैं।

सुधाकंठ, शांति की वाणी फैलाने के लिए तुम फिर आओ

अब माहौल शांत है। चारों ओर फैला अशांति का माहौल धीरे-धीरे शांत होने लगा है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अंदर ही अंदर माहौल पूरी तरह शांत हो ही गया है। किसी सोए हुए ज्वालामुखी की तरह जारी हैं जातीय दंगे। इन दंगों में किसे अधिक फायदा पहुंचा, यह कोई भी नहीं बता सकता। नहीं कह पाना स्वाभाविक भी है। हालांकि ऐसे वक्त में महत्त्वपूर्ण बात यही है कि सभी शांति-सद्भावना को अटूट रखें। मगर शांति की स्थापना करेगा कौन? जो लोग शांति स्थापना करने के लिए आगे बढ़कर आए हैं, उन्हें कुछ लोग पीछे की ओर खींचने में लगे हैं। ऐसे सुलगते माहौल को ठंडा करने के लिए हमें चाहिए एक महान कलाकार। सुधाकंठ के जैसे कलाकार की आज सबसे अधिक जरूरत है। इसीलिए चिल्ला-चिल्लाकर कहने को दिल करता है- हे सुधाकंठ, तुम असम में फिर आओ। असम के सभी जाति-जनजाति के बीच समन्वय सेतु बनाने के लिए हमें तुम्हारी जरूरत है। तुम ही ऐसा कर पाओगे। तुम्हारा कहा हर कोई सुनता है, क्योंकि तुम्हारे गीतों में राम-रहीम, मंदिर-मस्जिद, पहाड़-पठार सभी कुछ हैं और है एक सम्मोहिनी ताकत। ऐसी ताकत अन्य किसी दूसरे के पास नहीं है। तुम्हारे गीत आज भी समन्वय का सेतु बना सकते हैं। फिर एक बार तुम आ जाओ। तुम्हारी बातों को भी याद कर रहे हैं। तुम्हारे जैसे एक महान कलाकार की शून्यता का हर एक पल अहसास होता है। आज यदि तुम होते तो कोकराझाड़, चिरांग, बंगाईगाव, धुबड़ी में उठी हिंसा की अग्निशिखा को बुझा सकते थे। क्या तुम्हारी बातों को कोई भी टाल सकता था। हिंदू,

मुसलमान, ईसाई, सिख सभी के बीच बंधी भाईचारे की डोर को दीमक लग गई है। किसने सद्भावना को लहूलुहान किया, यह सभी ने देखा, सभी समझते भी हैं। किसी के कंधे पर बंदूक रख गोलियां दागी जा रही हैं और बदनामी हो रही है, उस कंधे की जिस पर बंदूक रखी हुई है। आग बूझने को ही थी कि दुष्टों ने फिर से इसमें घी डाल दिया। जलती आग में यदि घी डाल दिया जाए तो नतीजा क्या हो सकता है, यह सभी को पता है।

अब हमें अन्य एक भूपेन हजारिका की जरूरत है। जो सदिया से धुबड़ी तक जल रही आग को गीतों से बुझा सके। गीत सभी के दिलों को जीतते हैं। गीतों को दिल जीतने वाला ब्रह्मास्त्र कहा गया है। गीतों द्वारा ही हिंसा के दावानल को बुझाया जा सकता है। गीत का कोई दायरा नहीं होता, ना ही होती है कोई जाति-धर्म। किसी एक भाषा में गाए गए गीत का स्वर दूसरे भाषा-भाषी व्यक्ति को भी आकर्षित कर सकता है, क्योंकि गीत के स्वर में एक सम्मोहिनी शक्ति रहती है। वैसे गीत गाने के लिए हे, महान कलाकार तुम हमारे बीच लौट आओ। क्योंकि इस आग को यदि अभी पूरी तरह से बुझाया नहीं गया तो नतीजा भयावह होगा। हे, कलाकार असमिया समाज के उद्धार के लिए लौट आओ एक बार।

राम-रहीम, ईसाइयों को एक बंधन में बांधने के लिए आज तुम्हारी जरूरत है। तुम्हारे गीतों के शब्द, स्वर हमेशा शांति-सद्भावना की याद दिखाते हैं। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के बीच आमतौर पर अंतराल रहता है। ऐसे अंतराल की वजह से ही संभवत: एक पीढ़ी के गीतों को दूसरी पीढ़ी स्वीकार करना नहीं चाहती, मगर डॉ. भूपेन हजारिका के मामले में ऐसा कोई अंतराल नजर नहीं आता। पीढ़ी में फर्क नहीं है। हर एक पीढ़ी उनके गाए गीतों को गुनगुनाती है। ऐसी एक छवि आमतौर पर बहुत कम कलाकारों में ही देखने को मिलती है। सदियों तक डॉ. भूपेन हजारिका के गीतों को सुनने के बाद भी तृष्णा नहीं मिटती। एक दिन नहीं सुनने से ही गीत नए लगने लगते हैं। ऐसे गीत समाज के सभी लोगों के दिलों की कुलषित भावना को खत्म कर पाएंगे। इसीलिए ऐसे गीत गाने के लिए तुम हमारे बीच लौट आओ। एक आंगन में बैठ राम-रहीम, ईसाइयों में शांति की वाणी प्रचारित करो। तब हम सभी चिल्ला-चिल्लाकर कहेंगे- हम मानव जाति के हैं, हमारे बीच कोई अंतर नहीं है। सभी का खून लाल है और खून की बूंद पर लिखा नहीं रहता हिंदू, मुसलमान या ईसाई। रहता है सिर्फ प्राणी को जिंदा रखने का अंश 'संजीवनी शक्ति'।

कहां खो जाते हैं मेधावी विद्यार्थी

मैट्रिक और हायर सेकेंड्री के नतीजे निकलने के बाद राज्य भर में मेधावी विद्यार्थियों को सम्मानित करने की होड़ लगी हुई है। परीक्षा में बेहतर नतीजे हासिल करने की वजह से न सिर्फ विद्यार्थी, बल्कि उनके अभिभावकों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा है। यह सच है कि जब बच्चों को छोटी-बड़ी कैसी भी सफलता हासिल होती है तो अभिभावकों की छाती चौड़ी हो जाती है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। बच्चों की सफलता हर एक माता-पिता के दिलों में अपार उत्साह व आनंद का संचार करती है। माता-पिता का यह आनंद तब स्थायी कहलाता है, जब उनका बच्चा अगली कक्षा अथवा आगे भविष्य में भी ऐसी सफलताएं अर्जित करता है। किसी भी कारण से बच्चे को यदि भविष्य में दुबारा ऐसी सफलता प्राप्त नहीं होती तो अभिभावकों की यही खुशी आगे चलकर हताशा में बदल जाती है। सफलता की सड़क पर चार कदम चलने के बाद सही वक्त पर जब कोई नाकाम होता है तो यह नाकामी उसके जीवन के सारे गणित को उलट-पलट कर देती है। ऐसा बहुत ही कम देखने में आता है कि अध्ययन जीवन में मैट्रिक के नतीजों को लोग जितना महत्त्व देते हैं, उसके पहले और बाद की परीक्षा-नतीजों को उतनी ही अहमियत देते हों। परिवार के किसी सदस्य द्वारा हासिल की गई ऐसी सफलता पर खुश होने वाले पारिवारिक सदस्य उसके बाद की नाकामी पर अप्रिय प्रतिक्रिया ही व्यक्त करते हैं।

इन परीक्षाओं में विशेष स्थान हासिल करना अथवा बेहतर नतीजे लाना सफलता का पैमाना नहीं हो सकता। हकीकत में देखें तो ऐसे बहुत से मेधावी विद्यार्थी हैं, जो अपनी सभी परीक्षाओं में विशेष स्थान तो हासिल करते हैं, मगर बाद में इनमें से अधिकांश मेधावी विद्यार्थी कहीं न कहीं खो जाते हैं तो कुछ विद्यार्थियों को उनके जीवन की लय-छंद ढूंढ़े नहीं मिलती।

वहीं दूसरी ओर हमें कुछ ऐसे विद्यार्थी भी मिलते हैं जो या तो सफलता के शिखर पर राज कर रहे हैं अथवा विश्व पटल पर असम का नाम चमका रहे हैं। हम यदि इनके विद्यार्थी जीवन में झांकें तो पता चलेगा कि इन्होंने अपनी जिंदगी की किसी भी परीक्षा में कोई विशेष नतीजे हासिल नहीं किए हैं फिर भी इनके कॅरियर का ग्राफ ऊपर चढ़ता हुआ ही दिखाई देता है। यह सोचने में ही अचरज लगता है

कि परीक्षा में कोई विशेष स्थान अथवा सफलता हासिल किए बिना भी व्यक्ति सफलता के शीर्ष पर कैसे बैठा हुआ है। समाज के दूसरे लोग ऐसे सफल व्यक्ति का अनुकरण करते हैं। यहां मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि ऐसी बात भी नहीं है परीक्षा में विशेष स्थान हासिल करने वाले विद्यार्थी आगे भविष्य में सफलता हासिल नहीं कर पाते। हमारे समाज में ऐसे भी बहुत उदाहरण हैं कि परीक्षाओं में विशेष स्थान हासिल करने वाले व्यक्ति अपनी मेधा शक्ति के दम पर सफलता की चोटियों को भी अपने कदमों पर झुका देते हैं।

हम यदि विशेष स्थान प्राप्त मेधावी विद्यार्थियों की सफलता के ग्राफ का विश्लेषण करें तो यह बात उभरकर सामने आती है कि जरूरत से ज्यादा आत्म-विश्लेषण करने की वजह से ही विद्यार्थी आगे जाकर अपनी सफलता को दोहराने में नाकाम साबित होते हैं। किसी भी कार्य की सफलता के लिए आत्मविश्वास का होना बेहद जरूरी है। आत्मविश्वास के दम पर व्यक्ति असंभव को भी संभव करके दिखा सकता है। मगर यही आत्मविश्वास जब अति की हद से गुजरने लगता है तो व्यक्ति के पैर डगमगाने और फिसलकर गिर पड़ने की संभावनाएं बढ़ने लगती हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि हर एक विषय का एक तय दायरा रहता है। इस दायरे को जब भी पार करने की कोशिश होती है, तभी सारा का सारा गणित गड़बड़ाने लगता है। किसी गुब्बारे में यदि कोई उसकी क्षमता से अधिक हवा भरने की कोशिश करे तो उस गुब्बारे का फटना तय है। इसी तरह हर एक विद्यार्थी की अपनी एक तय सीमा और खास पसंद है। किसी को कला संकाय में पढ़ना रुचिकर लगता है तो किसी की वाणिज्य अथवा विज्ञान की पढ़ाई में दिल लगता है। जिसकी जिस विषय में रुचि हो, उसे यदि उस संकाय में ही पढ़ाया जाए तो विद्यार्थी के भविष्य में सफल होने की संभावना भी कई गुणा बढ़ जाती है, मगर देखा जाता है कि मैट्रिक में विशेष स्थान हासिल करने अथवा अच्छा रिजल्ट करने वाला विद्यार्थी किस संकाय में अपनी आगे की पढ़ाई करेगा, यह उसके अभिभावक ही तय कर देते हैं, यह जाने बिना कि उनके बच्चे की रुचि कला, वाणिज्य अथवा विज्ञान-किस संकाय में है। समाज में अपना कद ऊंचा करने अथवा किसी को दिखाने भर के लिए बच्चों पर थोपी गई ऐसी पढ़ाई उसके आगे की शिक्षा की राह में सबसे बड़ा रोड़ा साबित होती है। इस तरह एक विद्यार्थी की प्रतिभा और सफलता की सारी संभावनाएं उसके ही अभिभावकों की इस हेकड़ी और जबर्दस्ती के आगे दम तोड़ देती है।

एवरेस्ट शिखर पर दो असमिया पुत्र

आखिरकार दो असमिया पर्वतारोही तरुण सइकिया और मनीष डेका ने दुनिया की सर्वोच्च 29,028 फीट ऊंचे 'माउंट एवरेस्ट' पर्वत शिखर को अपने कदमों के नीचे लाने में सफलता हासिल कर ही ली। यह बात फिर साबित हुई कि असमिया किसी भी मामले में पिछड़े हुए नहीं हैं। दु:साहसिक अभियान में हिस्सा लेने वाले युवाओं की संख्या बढ़ती ही जा रही है। राज्य सरकार द्वारा दोनों पर्वतारोहियों को बीस-बीस लाख रुपए प्रदान कर उनका अभिनंदन करने और उन्हें सरकारी नौकरी देने की पेशकश करना नि:संदेह एक प्रशंसनीय कदम है। इसके अलावा राज्यसरकार सरकारी खर्चे पर असम से एवरेस्ट अभियान के लिए एक दल भेजने की घोषणा कर राज्य के पर्वतारोहियों के हौसले को कई गुणा बढ़ा दिया है।

तरुण सइकिया और मनीष डेका ने माउंट एवरेस्ट पर असमिया फुलाम गामोछा को विजय पताका के रूप में फहराकर हर एक असमिया के सीने को गर्व से चौड़ा कर दिया है। इससे पहले भी वरिष्ठ पत्रकार प्रवण बरदलै जैसे कई पर्वतारोही एवरेस्ट पर फतह हासिल करने के लिए निकले, मगर मौसम की बेईमानी कहें या अन्य कोई दूसरा कारण-उन्हें अपने मकसद में कामयाबी हाथ नहीं लगी। ऐसी सर्वोच्च सफलताओं से साबित होता है कि हमारे राज्य में प्रतिभाओं की कमी नहीं है। सिर्फ हमारी हीन भावना की वजह से ही हम खुद को अन्य के मुकाबले पिछड़ा महसूस करते हैं। पहले

हमारी सोच थी कि दिल्ली से असम बहुत दूर है, मगर आज वैश्विकरण के दौर में यह सोच भी खत्म होने को है। इस दौर में कोई भी असमिया हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठा रहता, वह अपनी चुनौतियों को पूरा कर विश्ववासियों को दिखा देना चाहता है कि हमारे भी बाजुओं में दम-खम है। चाहे वह खेल जगत हो अथवा सांस्कृतिक जगत, सभी क्षेत्र में असमिया आगे बढ़ रहा है और यह हमारी जाति के लिए एक अच्छी बात है।

एवरेस्ट पर कदम रखने वाले इन दोनों होनहार व्यक्तियों पर हम जितना भी गर्व करें कम है। क्योंकि जब तक हिमालय रहेगा एडमंड हिलेरी और तेंजिंग नर्के के साथ तरुण-मनीष का नाम भी लोगों की जेहन में ताजा रहेगा।

इनकी राह पर चलने का सपना देखने वाले पर्वतारोहियों को आज से ही कड़े अभ्यास में जुट जाना चाहिए, क्योंकि आने वाले कल को उन्हें यह बात साबित करनी है कि असमिया जाति के लिए दुनिया का कोई भी काम असंभव नहीं है। इसके लिए उनमें सिर्फ आत्मविश्वास का होना जरूरी है। इससे पहले किसने विश्वास किया था कि कोई असमिया पर्वतारोही 29 हजार फीट से ऊंची पर्वत शृंखला पर जा चढ़ेगा। दुनिया का कोई भी असंभव-सा दिखने वाला काम पहली बार तो किसी न किसी व्यक्ति को करना ही होगा। फिर वह पहला व्यक्ति आप क्यों नहीं हो सकते।

असम नाट्य महोत्सव 2014 और शिल्पी सहायता निधि

वर्ष 1993 की किसी एक शुभ बेला में सुधाकंठ डॉ. भूपेन हजारिका, गिरीश चौधरी सहित कई गणमान्य लोगों के प्रयास से शिल्पी सहायता निधि, असम का गठन किया गया था। तभी से शिल्पी सहायता निधि कलाकारों की सहायता के लिए हर संभव प्रयास करती आई है। अब तक यह संगठन कई कलाकारों को संकट की घड़ी में मदद पहुंचा चुका है। कलाकार समाज के प्रति जिम्मेदार होता है। इसीलिए समाज की भलाई के लिए ही कलाकार सृजन कार्य करता है। दिन-रात अपनी कला साधना में लगे रहने वाले कलाकार को इस बात की भी सुध नहीं रहती कि उसके परिवार के भरण-पोषण की जिम्मेदारी कौन उठाएगा। गरीबी भी उसे पराजित नहीं कर पाती है। दरिद्रता के जीवन संगिनी बन जाने के बाद भी उसका सृजन कार्य बिना रोक-टोक जारी रहता है। मानो उस कलाकार ने सिर्फ सृजन करने के लिए ही जन्म लिया हो। उसे इस बात की कतई परवाह नहीं रहती कि कौन उसकी प्रशंसा करता है और कौन निंदा। प्रचार माध्यम से दूर रहकर ये मौन कलाकार सृजनकार्य में लगे रहते हैं। लगभग सभी कलाकारों का अंतिम समय दुखदाई ही गुजरता है। जीवन की अंतिम बेला अभाव-तकलीफों में गुजारते हुए एक दिन बेचारा कलाकार सदा-सदा के लिए मौत की नींद सो जाता है।

क्या ऐसे कलाकारों के प्रति समाज की कोई जिम्मेदारी नहीं बनती ? क्या समाज के लिए करने को कुछ नहीं है। यदि कलाकार समाज के प्रति जिम्मेदार हैं तो समाज ऐसे कलाकारों के प्रति जिम्मेदार क्यों नहीं होगा। ऐसे कलाकारों की संकट की घड़ी में मदद का हाथ बढ़ाने के मकसद से गठित शिल्पी सहायता निधि, असम ने राज्य के विभिन्न सरकारी, गैर सरकारी संस्थान-प्रतिष्ठान, व्यक्ति-संगठन से अर्थ संग्रह कर कई कलाकारों की मदद की है। मगर इस काम के लिए जितनी बड़ी धनराशि की जरूरत है, उतनी बड़ी धनराशि संग्रह करना अभी तक संभव नहीं हो पाया है। इसीलिए सहायता निधि में जमा होने वाली धनराशि को बढ़ाने के लिए वर्ष २०१२ से असम नाट्य महोत्सव का शुभारंभ किया गया। वर्ष 2012 में आयोजित नाट्य महोत्सव में बॉलीवुड की जानी-मानी अभिनेत्री सीमा विश्वास ने दो नाटकों में अभिनय किया था। इसके अलावा अन्य कई नाटक दर्शकों के दिलो-दिमाग पर गहरी छाप छोड़ने में सफल रहे थे।

इसी कड़ी में वर्ष २०१४ की ६ जनवरी से द्वितीय असम नाट्य महोत्सव-2014 का आयोजन किया गया है। 10 जनवरी तक चलने वाले इस नाट्य महोत्सव में राज्य के दो लोकप्रिय नाट्य निर्देशक गुणाकर देव गोस्वामी की 'मृगया' और शंभु गुप्ता की 'वास्तव-अवास्तव' का मंचन किया गया। इसके अलावा बांग्ला की विशिष्ट अभिनेत्री कस्तुरी चट्टोपाध्याय द्वारा अभिनीत तथा देबेश चट्टोपाध्याय द्वारा निर्देशित बांग्ला नाटक 'सूर्य पोड़ा छाई', अर्पिता घोष और बाबू दत्त राय द्वारा अभिनीत तथा शावली मित्र द्वारा निर्देशित 'राजनीतिक हत्या', कोलकाता के काशवा अर्घ्य गोष्ठी के मनीष मित्र द्वारा निर्देशित 'प्रेमाणी बोल' का मंचन किया गया।

सिर्फ 10 लाख रुपए की कपार्श फंड से शुरू किए गए इस संस्थान का कोष बढ़ाकर एक करोड़ रुपए किए जाने की योजना है। बिना जनता के सहयोग के इस सफर को आगे की ओर ले जाना असंभव है। इसीलिए नाट्यप्रेमी जनता इस महोत्सव को जरूर अपना प्यार-समर्थन देगी, ऐसी हमें उम्मीद है। प्रसंगवश यहां इस बात का भी उल्लेख करना जरूरी है कि नाट्य महोत्सव का मकसद भले ही अर्थ संग्रह करना है, मगर अर्थ संग्रह के नाम पर किसी भी स्तर के नाटक के मंचन की अनुमति नहीं होती। गुणवत्ता संपन्न विशिष्ट दर्शकों की रुचि को ध्यान में रखते हुए नाट्य दलों को आमंत्रित किया जाता है।

नाट्य प्रभाकर सत्य प्रसाद बरुवा और नाट्यय सम्राट गिरीश चौधरी की संयुक्त कोशिशों से वर्ष 1993 में गठित शिल्पी सहायता निधि, असम ने पहले वर्ष कल्याण

जी-आनंद जी संगीत संध्या के माध्यम से पांच लाख रुपए जुटाए थे। इसी निधि में तत्कालीन मुख्यमंत्री हितेश्वर सइकिया ने भी पांच लाख रुपए का अनुदान दिया था। इस निधि का मुख्य उद्देश्य आर्थिक किल्लत की वजह से अपना इलाज नहीं करा पाने वाले कलाकारों को आर्थिक मदद उपलब्ध कराना है। 10 लाख रुपए पर वर्ष भर में ब्याज के रूप में जो राशि मिलती है, वही जरूरतमंद कलाकारों में वितरित की जाती है। निधि द्वारा जरूरतमंद कलाकारों को आर्थिक मदद दिए जाने के काम को जनता ने भी सराहा है और विभिन्न संस्थान-प्रतिष्ठान, लोगों ने इस निधि में अपनी आर्थिक भागीदारी निभाई है। वर्ष 2010 में निधि ने अपनी एक वेबसाइट खोली थी। इस वेबसाइट के द्वारा भी जनता से सहयोग की अपील की गई है।

रात को दर्शकों की तालियां की गड़गड़ाहट भले ही कलाकारों को उत्साहित करती हों, उनके पेट की भूख को नहीं मिटा सकतीं। कलाकारों की तकलीफें-थकान होती हैं। पेट की भूख मिटाने के लिए अन्न की जरूरत पड़ती है। मगर कहां से आएगा अन्न। पत्नी, बेटी, बेटे को कहां से खिलाएंगे। रोटी-कपड़ा और मकान की जरूरत हमेशा रहती है, मगर कलाकारों के पास नहीं होते हैं पैसे। इस तरह तो किसी के लिए भी अपना परिवार चलाना संभव नहीं है। कलाकारों का हाथ थाम उन्हें जिंदा रखने की जिम्मेदारी हम सभी की है। समाज का हर एक व्यक्ति यदि थोड़ी-सी भी मदद करे तो हम और अधिक कलाकारों को जिंदा रख सकेंगे।

क्या आज असम खुला है !

एक दिन एक व्यक्ति ने मुझसे पूछा था- क्या आज असम खुला है। कहीं दूसरे जिले अथवा राज्य में जाने से पहले हम यह जरूर जानकारी हासिल कर लेना चाहते हैं कि बीच में कहीं सड़क अथवा कोई जिला बंद तो नहीं है। रोज-रोज के बंद की वजह से लोगों के दिलों में ऐसे सवाल व शंकाएं उठने स्वाभाविक भी हैं और किसी सभ्य व्यक्ति को शर्मसार कर देने वाली भी।

बंद, बंद और बंद। किसी संगठन ने यदि 10 घंटे का असम बंद बुलाया है तो किसी ने सौ घंटे के बंद का आह्वान किया है। इन सबके बीच आर्थिक अवरोध की लहर, हिंसा, आगजनी आदि अपनी जगह पर हैं ही। इन सबके चलते कोई यदि बेघर होकर शरणार्थी शिविर में टिका है तो कोई खुले आकाश के नीचे अपने दिन गुजारने को मजबूर है। बंद की वजह से राज्य का विकास ठहर-सा गया है। असम में साल भर में जितने बंद होते हैं, दुनिया में अन्य किसी स्थान पर इतने बंद होने का उदाहरण शायद ही मिले।

बंद किसी समस्या का समाधान नहीं कर सकता। यदि दुनिया में बंद से ही किसी समस्या का हल हो सकता तो दुनिया के सभी हिस्सों में बंद होते। पहले कोई संगठन बंद बुलाता था तो परिस्थिति शांतिपूर्ण रहती थी, शांतिपूर्ण ढंग से ही विरोध जताया जाता था। मगर हाल के दिनों में बंद के दौरान जैसी अप्रिय घटनाएं देखने को मिलीं, उसकी कोई सभ्य व्यक्ति कल्पना भी नहीं करता। आज बंद ने सभी को परेशान किए हुए है। बंद की वजह से राज्य को सिर्फ आर्थिक नुकसान ही उठाना पड़ रहा है, ऐसी बात नहीं है। बंद की वजह से शैक्षणिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक विकास भी प्रभावित हुआ है। आज के दिन राज्य की स्थिति ऐसी हो गई है कि एक बच्चा बेखौफ होकर स्कूल तक नहीं जा सकता, क्या पता किसी ने स्कूल को जला दिया न हो। घर लौटते समय भी दिल में यह ख्याल आए बिना नहीं रहता घर सुरक्षित मिलेगा भी या नहीं।

एक दिन असम बंद होने से करीब 70 करोड़ रुपए का नुकसान उठाना पड़ता

है। यदि एक महीने में 20 दिन ही असम बंद हो तो नुकसान का यह आंकड़ा 14 सौ करोड़ रुपए से अधिक बैठता है। सोचने वाली बात यह है कि हजारों करोड़ों का यह नुकसान किसको होता है। आप कहेंगे सरकार को और लोकतांत्रिक व्यवस्था में जनता ही सरकार है तो यह नुकसान भी सीधे जनता को ही हो रहा है। रोज मजदूरी कर अपने और अपने परिवार का पेट पालने वाले लोगों के बारे में लगता है, ऐसे बंद का आयोजन करने वालों के पास सोचने तक की फुर्सत नहीं है। हमारे राज्य में ऐसे परिवारों की संख्या बहुत अधिक है, जिन परिवारों के मुखिया को जिस दिन काम नहीं मिलता, उस दिन उस परिवार में चूल्हा तक नहीं जलता। ऐसी स्थिति में यह सोचने वाली बात है कि सौ घंटे-हजार घंटे के आर्थिक अवरोध अथवा सड़क बंद से ऐसे गरीब परिवारों की क्या स्थिति होगी, इनके सामने तो रोटी, कपड़ा और मकान तीनों का ही संकट उठ खड़ा होगा।

लोकतांत्रिक राष्ट्र में सभी नागरिकों को शांतिपूर्वक तरीके से अपने अधिकारों के लिए आंदोलन करने का अधिकार है, मगर साथ ही साथ हमारे देश की कानून व्यवस्था ऐसे आंदोलन को हिंसात्मक होने से भी रोकती है। आज के दिन किसी भी प्रकार का विरोध करना तो लोग 'बंद' को ही इसका एकमात्र विकल्प मानते हैं, मगर भूल जाते हैं इस बंद से व्यक्ति, समाज और राज्य को कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। सड़क अवरोध की वजह से गंभीर रूप से बीमार मरीज अस्पताल नहीं पहुंच पाते, नौकरी के लिए साक्षात्कार देने नहीं जा सकते। विद्यार्थियों का इस वजह से दाखिला नहीं हो पाता। एक व्यक्ति सभी तरह से मजबूर हो जाता है। किसी भी राष्ट्र अथवा राज्य के आर्थिक विकास के लिए व्यापार, वाणिज्य, व्यवसाय आदि में परिवहन व्यवस्था की कितनी अहम भूमिका है, यह बात किसी से भी छिपी हुई नहीं है। कहते हैं वाणिज्य में लक्ष्मी का निवास होता है। जब सारे व्यापारिक प्रतिष्ठान-संस्थान बंद रहते हैं तो लोगों का जमावड़ा नहीं लगता और सड़कें आदि भी सूनी हो जाती हैं। ये सूनी सड़कें ही हमें बताती हैं कि व्यापारिक दिशा में हम कितना आगे बढ़ पाए हैं। अपनी भूख मिटाने के लिए जो दैनिक मजदूरी करते हैं, ऐसे लोगों के बारे में भी सोचने का वक्त आ गया है। सोचिए आपके एक दिन के असम बंद की वजह से इन लोगों को भूखे पेट सोना पड़ सकता है। बात-बात पर असम बंद का आह्वान करने वाले संगठनों को अब अपनी मानसिकता बदलनी होगी। याद रखिए विरोध प्रदर्शन करने का मतलब आगजनी और तोड़-फोड़ नहीं हो सकता।

पूर्वोत्तर को विकलांग मुक्त बनाने में लगा है तोलाराम बाफना कृत्रिम पैर व कैलिपर केंद्र

विकलांग भी समाज के ही अंग हैं और उन्हें भी अन्य स्वस्थ व्यक्तियों की तरह जिंदा रहने का अधिकार है। मगर हकीकत में ऐसे लोगों के अधिकार हनन कर बहुत से लोग अपने हितों को साधने में शर्म महसूस नहीं करते। ऐसा भी देखने को मिलता है, इन विकलांगों को बिना काम का करार देकर इन्हें अलग-थलग करने की भी कोशिशें की जाती हैं। शारीरिक कमजोरी को भगवान का अभिशाप बताकर जब ऐसे लोगों को सामाजिक मामलों से अलग-थलग रखने की कोशिशें जारी हैं, ऐसे में कई गैर-सरकारी समाजसेवी संगठनों के अलावा कई संवेदनशील लोग इनकी जिंदगी को पटरी पर लाने में जुटे हैं।

ऐसे ही एक संगठन का नाम है तोलाराम बाफना कृत्रिम पैर व कैलिपर केंद्र। इस केंद्र ने अब तक पूर्वोत्तर के छह हजार से अधिक विकलांगों को नि:शुल्क कृत्रिम पैर व कैलिपर प्रदान किए हैं। दुर्घटनाग्रस्त अथवा जन्म से विकलांगों के दर्द को महसूस करते हुए शुभकरण बाफना ने अस्सी के दशक में इस केंद्र की स्थापना की। दुर्घटना से हो अथवा अन्य किसी कारण से शारीरिक-मानसिक तौर पर विकलांग होने से उसका दर्द कितना गहरा होता है यह वैसी परिस्थिति से गुजरने वाला व्यक्ति ही बेहतर ढंग से समझ पाता है। मगर विज्ञान के इस दौर में अब विकलांग समाज के लिए अभिशाप बने हुए नहीं हैं। तोलाराम बाफना कृत्रिम पैर व कैलिपर केंद्र ने उनके स्वावलंबी होने के मार्ग को सुगम कर दिया है। पूर्वोत्तर में स्थापित यह केंद्र अपने प्रारंभ काल से ही सभी के आकर्षण का केंद्र बना हुआ है। तोलाराम बाफना ने अपने जीवित काल में ही इस परियोजना पर प्रारंभिक कार्य शुरू किया था, मगर इसके पूरा

होने से पहले ही वे इस दुनिया से चले गए। बाद में उनके बेटे शुभकरण बाफना ने अपने स्व. पिता के सपनों को साकार रूप देते हुए इस केंद्र की स्थापना की।

मालूम हो कि तोलाराम बाफना कृत्रिम पैर व कैलिपर केंद्र में विश्व प्रसिद्ध जयपुरी कृत्रिम पैर व कैलिपर तैयार कर उन्हें जरूरतमंदों में नि:शुल्क बांटा जाता है। ऐसे पैर तैयार करने के लिए जरूरत की सारी वस्तुओं को जयपुर से मंगवाने के अलावा विशेषज्ञों को भी वहीं से बुलवाना पड़ता है। ऐसे कृत्रिम पैर लगाने के बाद बहुत से विकलांगों ने आनंद का अनुभव किया है। ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित डॉ. बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य ने 28 मार्च, 1991 को उक्त केंद्र का उद्घाटन किया था। कई वर्ष पहले तक असम सहित पूर्वोत्तर के जरूरतमंदों को कृत्रिम पैर लगवाने के लिए पुणे जाना पड़ता था, मगर उक्त केंद्र के खुलने के बाद से लोगों को पुणे का चक्कर नहीं लगाना पड़ता। इस केंद्र द्वारा असम सहित पूर्वोत्तर के विभिन्न शहरों में नि:शुल्क कृत्रिम पैर व कैलिपर शिविर का भी आयोजन किया जाता रहा है ताकि गरीब जरूरतमंदों को उनके घर बैठे यह सेवा पहुंचाई जा सके। पिछले दो दशक में तो केंद्र से कृत्रिम पैर लगवाने वाले कई लोग सिर्फ अपने पैर पर ही खड़े नहीं हुए, बल्कि अन्य चार बेरोजगारों को रोजगार देने में भी सक्षम हुए हैं। इस केंद्र में कृत्रिम पैर लगा चुकी रूफिजा, कनकलता जैसी युवतियां बिहू नृत्य तक करती हैं। दर्शकों के समक्ष बिहू नृत्य प्रस्तुत करने के दौरान किसी को पता ही नहीं चला कि रूफिजा, कनकलता के पैर नकली हैं। ये दोनों युवतियां अन्य दूसरी विकलांग युवतियों के लिए एक प्रेरणा स्रोत तो बन ही सकती हैं।

एक बच्चे के जन्म लेने के कई महीने बाद उसका चलना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। मगर दुर्घटना आदि की वजह से जब एक अथवा दोनों पैर गंवाने पड़ते हैं, तब जीवन अंधकारमय हो जाता है। तोलाराम बाफना कृत्रिम पैर व कैलिपर केंद्र दर्द में डूबे लोगों को ऐसे ही अंधेरे से बाहर निकालने के काम में लगा हुआ है। जब इस केंद्र का दायरा और अधिक बढ़ेगा, तभी राज्य के अलावा पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों के विकलांगों तक इसका फायदा पहुंच सकेगा।

शून्यता के दो वर्ष

आज 29 नवंबर है। भूपेन दा की तरह मामोनी बाइदेउ को भी हमें छोड़कर गए दो वर्ष पूरे हो गए। इसी के साथ पूरे हो गए शून्यता के दो साल, जो शून्यता असम साहित्य सभा की है, असम के सामाजिक जीवन की है और भारतीय जनजीवन की है।

5 नवंबर को भूपेन दा के गुजर जाने के प्राय: 20 दिन बाद जब मामोनी बाइदेउ सदा के लिए हम सभी से जुदा हो गई थीं, तब सभी ने बिना किसी शंका के यह महसूस किया था कि यह एक अपूरणीय क्षति है, मगर यह क्षति किस मामले में सबसे बड़ी क्षति साबित होगी, यह संभवत: तब स्पष्ट नहीं हो पाया था। यह बात उनके निधन के दो वर्ष गुजर जाने के बाद आज साफ हुई है।

डॉ. इंदिरा गोस्वामी, लोकप्रिय नाम था मामोनी रायसम गोस्वामी और असमवासियों के दुलार का नाम था मामोनी बाइदेउ। इस मामोनी बाइदेउ की मौत हमारे बीच से वैसी एक लेखिका को छीनकर ले गई जो अन्य लेखक-लेखिकाओं की तरह अपने दिमाग से नहीं लिखा करती थीं। वे अपने दिल से लिखा करती थीं। समाज अथवा व्यक्ति को अपनी लेखनी का विषय बनाने के बजाए वे स्वयं अपने जीवन से अपने लेखन का विषय-वस्तु प्राप्त किया करती थीं। कोई यदि पूछे कि मामोनी रायसम गोस्वामी के श्रेष्ठतम उपन्यास का नाम क्या है तो नि:संदेह उसका उत्तर होगा-मामोनी रायसम गोस्वामी। अर्थात् उनका जीवन ही उनकी श्रेष्ठ उपन्यास, श्रेष्ठ सृजन, उनका

श्रेष्ठ साहित्य-कर्म था। ठीक जैसे जैक लंदन की तरह। असम अथवा भारत के लेखक-लेखिका अथवा अन्य सृजनकार्य से जुड़े लोगों में ऐसा अध्यावसाय कम ही देखने को मिलता है। ऐसा पाश्चात्य देशों में ही अधिकतर देखने को मिलता है, मगर मामोनी बाइदेउ ने वैसे अध्यावसाय से असमिया साहित्य में एक नई धारा का सृजन किया। मामोनी बाइदेउ की मृत्यु ने इस धारा के मामले में जिस शून्यता को जन्म दिया, उस शून्यता को पिछले दो सालों में आंशिक रूप में भी भरा नहीं जा सका।

मामोनी बाइदेउ के निधन के बाद पिछले दो सालों से असमिया पाठक समाज एक भिन्न रसास्वादन और सबल गद्य शैली की कमी को महसूस करता आया है। मामोनी बाइदेउ ने जिस तरह से विचित्र तरीके व सबल गद्य के माध्यम से असमिया पाठक को असाधारण स्वाद चखाया, उनके निधन के साथ ही उस स्वाद से पाठकगण हमेशा के लिए वंचित हो गए। अपने जीवन का अनुभव ही मामोनी बाइदेउ के लेखन अथवा साहित्य सृजन का मुख्य साधन था। उसके लिए ही मामोनी बाइदेउ ने अपने जीवन को बहुत बार एक रोमांच के तौर पर लिया। ज्ञान व रहस्य की खोज में वे सदैव कूद पड़ने को तैयार रहती थीं। उसके लिए जरूरत पड़ती थी साहस की, हो सकता है दु:साहस की भी। मामोनी बाइदेउ के निधन के बाद वैसी एक साहसी लेखिका का अभाव असमवासी पिछले दो सालों से हमेशा अनुभव करते रहे हैं।

भारत की आत्मा से जुड़ा है महाकाव्य रामायण। इसी रामायण पर आधारित है रामायणी साहित्य। इस साहित्य की विश्वव्यापी स्वीकार्यता है। इस रामायणी साहित्य की एकमात्र असमिया साधिका थी मामोनी बाइदेउ। उनके निधन के साथ ही मानो एक दिशा अंधेरे में डूब गई।

राष्ट्रीय स्तर के सर्वोच्च पुरस्कार और सम्मान से मामोनी बाइदेउ ने असम-असमिया के मस्तक को गर्व से ऊंचा किए रखा था। वैसा एक गौरवमय क्षण हासिल करने के लिए हमें कितना इंतजार करना पड़ेगा, यह किसे पता है।

सफलता-विफलता के भंवर में फंसा गणतंत्र

हर साल 26 जनवरी आते ही या इसके आगे-पीछे एक सवाल बार-बार उठाया जाता है कि भारतीय गणतंत्र कितना सफल रहा है। क्या सही मायने में हम गणतंत्र का उपभोग कर पाए हैं। भारतीय नागरिक क्या सच में ही सारे गणतांत्रिक अधिकार हासिल कर पाए हैं। ऐसे सवालों के उत्तर-प्रति उत्तर हर साल एक लंबे विवाद का रूप ले लेते हैं। पक्ष-विपक्ष में विभिन्न प्रकार की दलीलें दी जाती हैं, इसके बावजूद स्पष्ट जवाब भी निकलकर सामने नहीं आता। मेरी नजर में ऐसे सवालों के स्पष्ट उत्तर खोजने की बात भी अजीब-सी लगती है। क्योंकि गणतंत्र की सफलता-विफलता एक तुलनात्मक विषय है। हम किस बात पर गणतंत्र को सफल कहेंगे, उसकी कोई तय संज्ञा नहीं है और किस बिना पर गणतंत्र को असफल करार देंगे, उसकी भी कोई संज्ञा नहीं है। इसके बावजूद गणतंत्र हमेशा एक बदलाव का भी विषय रहा है। गणतंत्र यहीं खत्म हो गया अथवा यही स्तर उसका सर्वोच्च-सर्वोत्तम स्तर है कहकर कोई व्यक्ति एक खास स्थिति को इंगित नहीं कर सकता। विश्व के विभिन्न सफल गणतंत्र

के बीच भी स्थिति का फर्क है। उन देशों के नागरिकों की सामग्रिक हालात में भी फर्क है। हकीकत में सभी देशों के सभी गणतंत्र में ही सफलता-विफलता छिपी है।

भारत भी उससे अलग नहीं है। हमारे देश में गणतंत्र की स्थापना हुए छह दशक से अधिक का समय बीत गया। अभी भी देश पूरी तरह से विकसित नहीं हो पाया है। कल्याणकारी लोकतांत्रिक राष्ट्र भारतवर्ष में गणतंत्र की स्थापना के छह दशक से अधिक का समय गुजर जाने के बाद आज भी करोड़ों लोगों का दरिद्रता, निरक्षरता और कुसंस्कारों के दलदल में फंसे रहना नि:संदेह दुर्भाग्यजनक है। इसके अलावा यह बात भी दुर्भाग्यजनक है कि वह माहौल, जिसमें देश के निरीह लोगों को अपने ही देश की सेना-पुलिस से डर-डर कर रहना पड़ता है। हमारे देश में आज के दौर में क्रमश: नजरों में खटकने वाली जाति आधारित अथवा धार्मिक संवेदनशीलता भी स्वस्थ गणतांत्रिक मूल्यों के विपरीत है। ठीक उसी तरह देश की जटिल व लंबी चलने वाली न्यायिक प्रक्रिया ने भी काफी हद तक गणतंत्र को नाकाम बनाकर रखा है। न्याय हासिल करने का अधिकार गणतांत्रिक देश के नागरिक का एक मुख्य अधिकार होता है। भारतीय संविधान ने इस देश के सभी नागरिकों को बिना किसी प्रकार के भेदभाव के न्याय प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया है, मगर देश में न्याय व्यवस्था की लंबी प्रक्रिया के कारण संपूर्ण न्यायिक प्रक्रिया में जो विलंब होता है, वह विलंब ही नागरिकों को उनके न्याय पाने के अधिकार से दूर कर देता है। गणतंत्र के चार स्तंभ कार्यपालिका, न्यायपालिका, विधायिका और समाचार माध्यम में से लगता है जैसे हमारे देश में अभी तक सिर्फ समाचार माध्यम ने ही पूर्णता हासिल की है। गणतंत्र के बाकी बचे तीनों स्तंभों का अभी और विकास किए जाने की जरूरत है। मगर इतने के बाद भी यदि हम एक तुलनात्मक नजर डालें तो हमें कहना ही होगा कि भारतीय गणतंत्र बहुत हद तक सफल रहा है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका के कई राष्ट्रों ने यूरोपीय औपनिवेशिक ताकतों की पराधीनता से आजाद होकर स्वाधीनता हासिल की थी। नए-नए राष्ट्रों का निर्माण भी हुआ था। वैसे नए देशों में से लगभग सभी देशों ने गणतंत्र को ही अपनी शासन व्यवस्था के रूप में चुना, मगर बाद में ऐसे अधिकांश देशों में गणतांत्रिक शासन व्यवस्था टिक नहीं पाई। इन देशों की प्रशासनिक स्थिरता भी स्थिर नहीं रह पाई। कई देशों में सैनिक सत्ता स्थापित हुई। कई देशों में धार्मिक कट्टरवादियों ने सत्ता में आकर देश में धार्मिक शासन व्यवस्था की शुरुआत की तो कई देश गृहयुद्ध की भेंट चढ़ गए। मगर ऐसे हालातों के विपरीत एक के बाद एक बड़े पैमाने पर आम

चुनावों का आयोजन कर भारत ने विश्व को अचंभित किए रखा। भारतीय गणतंत्र की ढेर सारी कमियों के बीच आज भी भारतवासियों के लिए यह सुकून की बात है कि हमारा देश कम-से-कम पाकिस्तान, अफगानिस्तान अथवा बांग्लादेश जैसा तो नहीं है। देश की स्थिति श्रीलंका अथवा म्यांमार जैसी भी नहीं है। हो सकता है यही भारतीय गणतंत्र की सफलता हो। मगर यह संतोष की वजह भी नहीं होनी चाहिए। शासक और शासित दोनों ही पक्षों को इस देश की गणतांत्रिक व्यवस्था को और अधिक जनमुखी बनाने की कोशिशें करनी होंगी। गणतांत्रिक मूल्यों को बचाए रखने में भारतीय गणतंत्र के योगदान को हमें गर्व के साथ अपने दिल में संजोकर रखना होगा।

बरपेटा का देउल उत्सव

होली या फगुआ का त्योहार देश भर में मनाया जाता है। देश के अन्य राज्यों के साथ-साथ असम में यह त्योहार यहां की परंपरा, रीति-रिवाज के अनुसार मनाया जाता है। बरपेटा, बटद्रवा आदि स्थानों पर जिस तरह यह उत्सव मनाया जाता है, वह देखने लायक होता है। ऋतुराज वसंत के आगमन के साथ-साथ बरपेटा शहर रंगीन हो जाता है। वसंत की लय में इस क्षेत्र के निवासियों के दिल भी खुशियों से लबरेज हो उठते। पूरी प्रकृति, पेड़-पौधे फागुनी हवा के स्पर्श से मदमस्त हो उठते हैं। दौलोत्सव का यदि इतिहास खंगाला जाए तो पता चलता है कि पहली बार बैकुंठ में इस उत्सव का आयोजन किया गया था। प्रभु श्री कृष्ण को उनके श्रद्धालु झूले में बिठाकर नृत्य-गीत करते हुए एक-दूसरे पर अबीर डाल होली का आनंद उठाते थे। कहा जाता है बाद में ब्रह्मा, इंद्र, रूद्र आदि देवताओं ने प्रार्थना कर देवलोक में इस उत्सव का शुभारंभ करवाया। बताया जाता है कि नहुश वंश के राजाओं द्वारा मर्त्य लोक में यह उत्सव लाया गया और इसके लिए नहुश वंश के राजाओं को देवताओं के साथ युद्ध तक करना पड़ा था।

महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव ने बैकुंठ की तर्ज पर सत्रीया रीति-रिवाज से बरदोवा सत्र में दौल उत्सव का आयोजन किया था। बाद में यह उत्सव असम के अन्य हिस्सों में भी मनाया जाने लगा और बरपेटा भी इस उत्सव के आनंद की खुमारी से अछूता नहीं रह सका। बरपेटा में दौलोत्सव को देउल अथवा दौलयात्रा कहा जाता है। इस अंचल में मनाए जाने वाला देउल कभी तीन दिवसीय, कभी चार दिवसीय और कभी पांच दिवसीय कार्यक्रमों के साथ आयोजित किया जाता है। देउल के प्रथम दिन को 'गंध यात्रा' कहा जाता है। इस दिन भक्तगण मैदान से पुआल लाकर सत्र के अहार्त में मेजी बनाते हैं। शाम को दौलगोविंद को सत्र के भांज घर के पिछले दरवाजे से और कलिया ठाकुर गोसाईं को मुख्य द्वार से गायन-बायन के साथ निकाला जाता है। बाद में दोनों मठों के आंगन में दोनों गोसाईं (देवता) को दो बड़ी सराई पर रखा जाता है। इसी के साथ-साथ शुरू होता है अधिवास। मठ के आंगन के पश्चिम दिशा में संरक्षित नाद का पानी लाकर महाप्रभु की स्नान-अर्चना करनी पड़ती है। इस मौके पर आठ गीत गाए जाते हैं। इन आठ गीतों में अहिर, ललित, वसंत, मनसी, कामुद, मल्हार, बराशी और भैरव राग के गीत शामिल हैं। संक्षेप में इनको 'अंगराग' कहा जाता है। इस कार्य को संपादित करने के बाद गायन-बायन के साथ दोनों गोसाईं को अहाते में बनी मेजी के निकट लाया जाता है और उसके साथ-साथ मेजी में अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी जाती है। इसके बाद महाप्रभु को अग्नि के चारों ओर सात बार घुमाया जाता है। इस क्रिया को गोसाईं माघ पुउवा अथवा मेजी पुउवा कहा जाता है। यह अवसर सभी के लिए महा आनंद का अवसर होता है, क्योंकि इस क्रिया के साथ-साथ चारों ओर आतिशबाजी का प्रदर्शन शुरू हो जाता है। बरपेटा की इस आतिशबाजी का विशेष महत्त्व इसलिए भी है, क्योंकि इस आतिशबाजी का निर्माण बरपेटा के मूल निवासियों द्वारा किया जाता है। इस मौके पर चारों ओर अबीर उड़ाई जाती है और चारों ओर व्याप्त होली के माहौल से बरपेटा बैकुंठ में बदल जाता है। इस मौके पर गाए जाने वाले होली गीतों का भी एक अलग ही आनंद व महत्त्व है। इसके बाद महाप्रभु को योगमोहन गृह में लाया जाता है। दौल गृह के दक्षिण दिशा में बिना दीवार-टाट वाले घर में उन्हें रखा जाता है। यहीं रात को महाप्रभु झूले से नीचे उतरते हैं। गंधयात्रा के दूसरे दिन भरदेउल पर भक्त महाप्रभु पर अबीर डालकर उनका आशीर्वाद लेते हैं। महाप्रभु के सभाघर में रहने वाले कई दिन योगमोहन गृह के सामने नित्य प्रसंग का आयोजन किया जाता है। उस दिन सुबह गीत-भटिमा गाने के बाद आठ सराई रखकर दीप प्रज्ज्वलित किए जाते हैं। शाम को बरबुलिया का नृत्य प्रदर्शन किया जाता है।

दौल के अंतिम दिन को फाकुआ अर्थात सुंवेरी कहा जाता है। दोपहर को दौलगोविंद और कलिया ठाकुर को पुन: निकालकर मठ के चबूतरे पर लाया जाता है।

सिर्फ असम में ही नहीं, पूर्वोत्तर राज्यों में बरपेटा के दौल उत्सव की एक विशेष पहचान है। इसलिए महाप्रभु का आशीर्वाद लेने के लिए दूर-दराज से बड़ी संख्या में लोग बरपेटा आते हैं। अतीत से ही परंपरागत ढंग से मनाए जा रहे इस उत्सव पर आज भी आधुनिकता का प्रभाव नहीं पड़ा है। इस उत्सव के लिए अंचल के सभी लोग गौरव का अनुभव करते हैं और इसीलिए इस उत्सव की पहचान बनाए रखने पर भी विशेष ध्यान देते हैं।

बहाग बिहू और परंपराएं

बिना परंपराओं को अपनाए कोई भी आगे नहीं बढ़ सकता। आधुनिकता के साथ-साथ कदमताल करते हुए इंसान विकास के मार्ग पर आगे निकल आने के बावजूद कुछ मुद्दों को वह कभी भी तिलांजलि नहीं दे सकता। दुनिया के सभी देशों में कुछ ऐसी ही तस्वीर देखने को मिलती है। बहाग बिहू के मामले में भी हमें कुछ ऐसा ही देखने को मिलता है। प्राचीनकाल से राज्य के विभिन्न हिस्सों में परंपरागत रूप से बिहू मनाया जाता है। राज्य में निवास करने वाले विभिन्न जाति-जनजाति-जनगोष्ठी के लोग अलग-अलग तरीके से अपनी-अपनी परंपराओं के अनुसार बिहू का त्यौहार मनाते हैं। वैसे तो दोमाही के दिन अर्थात बिहू के पहले दिन से सात बिहू यानि की बिहू के बाद सात दिनों तक बिहू मनाई जाती है, मगर जहां तक बहाग बिहू का सवाल है तो यह त्यौहार पूरे बैसाख माह तक मनाया जाता है। क्योंकि कुछ स्थानों पर स्थाई रूप से बिहू मनाया जाता है। विशेषकर फाटबिहू (एक प्रकार की बिहू) आदि ने बिहू पालन की परंपरा को एक नया स्वरूप प्रदान किया। वैसे तो कुछ अंचल विशेष में फाटबिहू का आयोजन किया जाता है, मगर इसका महत्व पूरे राज्य भर में देखने को मिलता है। क्योंकि फाटबिहू के आयोजन का आनंद लेने के लिए अन्य स्थानों से भी बड़ी संख्या में लोग आयोजन स्थल पर पहुंचते हैं। बिहू के उत्सव में शामिल होने के लिए उमड़ने वाला यह जनसैलाब इस बात को साबित करता है कि बिहू को किसी क्षेत्र अथवा दायरे में समेटकर नहीं रखा जा सकता। देखा जाए तो बिहू का दायरा हमें किसी सागर से भी बड़ा नजर आता है।

असम का हर एक व्यक्ति बिहू में स्वयं को विलीन कर देना चाहता है। क्योंकि बिहू को असमिया जाति की आयु रेखा कहा जाता है। किसी भी एक जाति का परिचय प्रस्तुत करने के लिए कुछ विशेषताओं का होना जरुरी है। विभिन्न माध्यमों से ही ये विशेषता सामने आती है। असमिया के परिचय के जो सांस्कृतिक अंग हैं, उनमें रंगाली बिहू का स्थान सबसे पहला है, क्योंकि इस बिहू में जो गीत प्रस्तुत किए जाते हैं वे और युवक-युवतियों के नृत्य असम की एक अलग पहचान, एक अलग छवि प्रस्तुत करने में मदद करते हैं। इसलिए हम सभी को बहाग बिहू, इससे जुड़ी परंपराएं, गीत-नृत्य को विकृतियों से दूर रखना होगा। कोई संस्कृतिक जब विकृत होती है तो इससे जुड़ी जाति की पहचान सबसे अधिक प्रभावित होती है। हम यदि असमिया जाति के परिचय की बात करें तो हमें बहाग बिहू की बात जोर देकर कहनी ही होगी। यहां इस बात का भी उल्लेख करना होगा कि हर एक जाति की एक अलग पहचान रहती है, जिसे वह पूरे गौरव के साथ विश्व-पटल पर रखना चाहती है।

कोई यदि संस्कृति को विकृत करता है तो उसकी परंपरा के गुण भी नष्ट होते हैं। इसलिए बहू के मामले में हो या अन्य किसी मामले में कुछ ऐसा ही देखने को मिलता है। आजकल प्राच्य-पाश्चात्य के संमिश्रण के कारण बहुत सी संस्कृतियों में विकृतियों का भी समावेश हुआ है। एक जाति का दूसरी जाति की सभ्यता-संस्कृति के साथ परिचय होना चाहिए। ऐसा होने पर ही दो जातियों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान संभव हो सकता है। मगर, ऐसा करते समय दोनों जातियों की संस्कृतियों पर कोई कुप्रभाव न पड़े, इसको लेकर सभी को जागरुक रहने की जरुरत है।

आज के दौर के बिहू गीत-नृत्य में भी बहुत से बदलाव आए हैं। और तो और ढोलकिया और नृत्यांगनाओं के परिधान-पोशाक पर आधुनिकता का प्रभाव दिखने लगा है। इन्हीं कारणों के चलते बिहू अपने असली स्वरूप को खोने लगा है। ऐसे में जागरुक लोगों के मन में सवाल उठ सकता है कि बहाग बिहू में आ रहे बदलावा की रफ्तार यदि यही रही तो भविष्य में बहाग बिहू का अस्तित्व बना रह पाएगा या नहीं। इस दुनिया से बहुत सी सभ्यता-संस्कृति-परंपराएं खत्म हो चुकी है। यदि हमारी समृद्ध संस्कृति इसी तरह एक दिन गुम हो जाए तो क्या हम कह सकेंगे कि असमिया जाति एक ताकतवर जाति है। दुनिया में जिस जाति की समृद्ध संस्कृति नहीं है, उस जाति को मेरुदंडहीन जाति के रूप में जिंदा रहना पड़ता है।

कलाक्षेत्र को न बनाएं किसी का समाधिस्थल

श्रीमंत शंकरदेव कलाक्षेत्र किसी का समाधिस्थल नहीं हो सकता। कला, साहित्य और संस्कृति की चर्चा का केंद्र स्थल है कलाक्षेत्र। हाल ही में असम सरकार ने जनगायक खगेन महंत का अंतिम क्रिया-कर्म करने के लिए जो निर्णय लिया, उसे सरकार का एक तुगलकी फैसला ही कहा जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि असमवासियों के प्रात: स्मरणीय कलाकारों में खगेन महंत का नाम सबसे पहले आता है। असम के सांस्कृतिक जगत में इस कलाकार का योगदान असीम है और राज्य के सांस्कृतिक इतिहास में वे अपनी सृजनशीलता के लिए सदैव याद किए जाएंगे। लेकिन, इस महान गायक की नश्वर देह को जिस स्थान पर पंचतत्व में विलीन किया गया, हो सकता है वह सभी के लिए स्वीकार्य न हो। हम यह भी कह सकते हैं कि सरकार के इस तुगलकी फैसले ने जनगायक को आमजनता से अलग-थलग करने का काम किया है।

यह हम सभी को पता है कि असम समझौते के आधार पर ही श्रीमंत शंकरदेव कलाक्षेत्र का निर्माण किया गया था। इस तरह के कलाक्षेत्र का निर्माण कर असम के सामाजिक जीवन व संस्कृति से जुड़ी अमूल्य संपदाओं को विश्ववासियों के समक्ष

प्रस्तुत किए जाने का प्रयास किया गया है। श्रीमंत शंकरदेव के सम्मान में निर्मित यह कलाक्षेत्र पिछले अर्से से बाहर से आने वाले देशी-विदेशी पर्यटकों के लिए भी आकर्षण का केंद्र बना हुआ है। कलाक्षेत्र की अपनी एक विशेष पहचान भी हम सभी के लिए चर्चा का विषय रही है। असम के इतिहास, परंपरा, रीति-रिवाज, कला-संस्कृति, सामाजिक जीवन, धार्मिक मान्यताएं, युद्ध कौशल जैसे विभिन्न पहलुओं को जानने-समझने के लिए प्रतिदिन सैकड़ों लोगों की भीड़ कलाक्षेत्र में जमा होती है। गुवाहाटी में यही एक ऐसा क्षेत्र है, जिसने देश-विदेश के पर्यटकों के अलावा असम सहित पूर्वोत्तर के बारे में जानने की ललक रखने वालों के बीच में बहुत कम समय में अपनी पहचान कायम करने में कामयाबी हासिल की है।

देश-विदेश के लोगों के आकर्षण का केंद्र रहे श्रीमंत शंकरदेव कलाक्षेत्र के परिसर में खगेन महंत का अंतिम संस्कार करने का निर्णय असम सरकार ने क्या सोचकर लिया, यह अभी तक असमवासियों की समझ में नहीं आया है। खगेन महंत का अंतिम संस्कार यदि गुवाहाटी के अन्य किसी स्थान पर भी किया जाता तो उनके प्रति लोगों के दिलों में सम्मान की जो भावना है, वह कम नहीं हो जाती। सुधाकंठ डा. भूपेन हजारिका और ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त मामोनी रायसम गोस्वामी जैसे महान कलाकारों के भी अंतिम संस्कार जालुकबाड़ी और नवग्रह में किए गए थे। लिहाजा खगेन महंत का अंतिम संस्कार भी यदि किसी अन्य स्थान पर किया जाता तो वह स्थान भी जनगायक को चाहने वालों तथा यहां आने वाले पर्यटकों के लिए एक पुण्य भूमि-आकर्षण भूमि बन सकता था। मगर, श्रीमंत शंकरदेव कलाक्षेत्र परिसर में जनगायक का अंतिम संस्कार किए जाने के लिए सरकार द्वारा लिया गया फैसला राज्य की जनता को कतई मंजूर नहीं है। क्योंकि जनता चाहती है कि उनके प्रिय कलाकार का समाधिस्थल खुले स्थान में हो। अब आज की स्थिति में यदि किसी अन्य कलाकार, साहित्यकार अथवा नेता के निधन के पश्चात कलाक्षेत्र परिसर में उनका अंतिम संस्कार किए जाने की मांग उठे तो सरकार के पास वह कौन-सी दलील है, जिसके बल पर वह इस मांग को खारिज कर पाएगी। अपने इस तुगलकी फैसले से राज्य सरकार ने जिस रास्ते को खोल दिया है, आने वाले दिनों में उस रास्ते को सरकार कैसे बंद कर पाएगी। यह सवाल आज हर एक के मन में उठ रहा है।

महान कलाकार, साहित्यकार, नेताओं के लिए एक अलग से समाधिस्थल की जरूरत है। सरकार यदि ऐसे एक समाधिस्थल के निर्माण को महत्व दे तभी आने वाले समय में ऐसी विवादित स्थिति को उत्पन्न होने से रोका जा सकेगा। किसी एक समय

अखिल असम छात्र संघ ने भी कलाक्षेत्र में एक शहीद वेदी निर्माण करने का फैसला किया था। मगर, उस वक्त छात्र नेताओं के सामने यह स्पष्ट कर दिया गया था कि कलाक्षेत्र में किसी भी प्रकार की शहीद वेदी के निर्माण की अनुमति नहीं दी जाएगी, जबकि यह बात भी सच है कि आसू के साथ हस्ताक्षरित असम समझौते के आधार पर ही श्रीमंत शंकरदेव कलाक्षेत्र का निर्माण संभव हो पाया था। ऐसे में आज के दिन कलाक्षेत्र को समाधिस्थल में बदलने की क्या तुक हो सकती है। असम में सैकड़ों कलाकार, साहित्यकार हैं जो राज्य के कला-संस्कृति, राजनीतिक जगत में अपनी सेवाएं देने में लगे हैं। ऐसे किसी किसी कलाकार, साहित्यकार अथवा नेता का कलाक्षेत्र में अंतिम संस्कार किए जाने की मांग उनके प्रशंसकों द्वारा उठे तो सरकार किस आधार पर उनकी मांग को खारिज करेगी। समय के साथ-साथ असम के इतिहास को भी लेकर चलने वाले कलाक्षेत्र को सुरक्षित किया जाना चाहिए। कलाक्षेत्र को कोई समाधिस्थल में तब्दील न कर पाए, इसके लिए सभी को जागरुक होना पड़ेगा। खगेन महंत जैसे लोकगायक का अंतिम संस्कार किसी उपयुक्त स्थान पर किए जाने पर किसी को आपत्ति नहीं है। मगर, यह अनुरोध जरूर रहेगा कि सरकार भविष्य में ऐसा कोई भी निर्णय हड़बड़ी में न ले। ऐसा कोई भी निर्णय लेने से पूर्व विभिन्न दल-संगठन, संस्थान, विशिष्ट व्यक्तियों से भी सुझाव लिए जा सकते हैं। सरकार एक सही स्थान पर समाधिस्थल का निर्माण कराए, जहां राज्य के प्रातः स्मरणीय व्यक्तियों का अंतिम संस्कार किया जा सके।

परंपरागत सुरों को संग्रहित करने वाला वह कलाकार

'एये मोर शेष गान, मोर जीवन नाटर शेष गान.....।' जीवन-नाटक का बीच में ही पर्दा गिर गया। हमारे बीच से हमेशा-हमेशा के लिए चले गए सभी के प्रिय बिहू सम्राट खगेन महंत। निगाजी पाम अब शून्यता पसरी नजर आती है। सभी कोई है, मगर उनमें से लगता है कोई एक व्यक्ति नहीं है। वे अब 'कोलोरे पातते काउरी पोरे' गीत गाकर श्रोताओं को मन मुग्ध करने के लिए नहीं आएंगे। असमवासियों के प्राण से प्यारे कलाकार के चले जाने के साथ-साथ बहुत से सुर भी खो जाएंगे। क्योंकि असम के विभिन्न स्थानों पर परंपरागत ढंग से चले आ रहे बहुत से सुरों को इस महान कलाकार ने संग्रहित कर अपने कंठ-स्वर के माध्यम से विश्ववासियों के सामने प्रस्तुत किया था। बाद में यही सुर श्रोताओं के लिए आकर्षण का केंद्र बने। सिर्फ यही नहीं समय-समय पर बहुत से लोगों ने इन सुरों को लेकर शोध तक किया था। असम के विभिन्न हिस्सों में अभी भी बहुत से सूर परंपरागत ढंग से चले आ रहे हैं। आज से तीन दशक पूर्व ऐसे परंपरागत सुरों को विश्व पटल पर कोई स्थान हासिल नहीं था। विश्वस्तरीय सुर होने के बावजूद ये अपने-अपने क्षेत्र विशेष तक ही सीमाबद्ध थे। मगर, बाद में राज्य के विभिन्न स्थानों के मंच पर अपने गीत पेश करने के दौरान खगेन महंत और अर्चना महंत ने ऐसे सुरों को संग्रहित कर श्रोताओं को ये सुर उपहारस्वरूप दिए थे। इस तरह सुरों को संग्रहित कर श्रोताओं को सुर-उपहार देने के फलस्वरूप एक स्थान के व्यक्ति को दूसरे स्थान के सुरों के बारे में जानने-समझने का मौका भी मिला।

हर एक कलाकार की अपनी एक खास विशेषता होती है। अपनी इसी विशेषता के दम पर वह कलाकार श्रोताओं में मुग्ध करने का प्रयास करता है। कोई कलाकार यदि अपने कंठ-स्वर से श्रोताओं को खुश करता है तो कोई गीत के सुरों के माध्यम से

श्रोताओं को आकर्षित करने का काम करता है। मगर, खगेन महंत ने अपने कंठ-स्वर और सुर को एकाकार कर संगीत जगत में एक अलग ही माहौल की रचना की थी। इसीलिए खगेन महंत के गीतों को सुनते ही श्रोताओं के दिल में एक अजीब सी हलचल पैदा हो जाती है। रेडियो पर गीत बजते ही उद्घोषक को यह बताना ही नहीं पड़ता कि वह खगेन महंत का गीत बजा रहे हैं। कंठ-स्वर और सुर के सामंजस्य को देख श्रोतागण तो अपने आप ही समझ जाते थे कि जो गीत बज रहा है, वह खगेन महंत का गीत है।

खगेन महंत को मुकुटविहीन सम्राट का दर्जा दिया जाता है। ऊपरी असम के सुरों को निचले असम तक लाने की दिशा में जिन कलाकारों ने सक्रियता दिखाई थी, वैसे कलाकारों की सूची में खगेन महंत का नाम शीर्ष पर रहेगा। अस्सी के दशक में खगेन महंत के बिहू गीतों ने पूरे असम को हिलाकर रख दिया था। हर साल बैशाख में श्रोताओं को नए-नए सुरों के उपहार मिला करते थे। तब आजकल की तरह इतने कैसेटों का भी प्रचलन नहीं था। फिर भी असम के हर एक व्यक्ति के होठों पर खगेन महंत के गाए बिहू गीत ही हुआ करते थे। ऊपरी असम की बिहू के सुरों को निचले असम में प्रचारित करने के लिए इस कलाकार को ऊपरी असम के विभिन्न इलाकों में जाना पड़ा था। बाद में खगेन दा ने बहुत तकलीफें उठाकर संग्रहित गीत-सुर को मंच पर पेश कर श्रोताओं में उन सुरों को लोकप्रिय बनाने का काम किया। इस काम में उनकी पत्नी गायिका अर्चना महंत ने भी उनका बराबर साथ दिया। इस प्रकार ऊपरी असम के बहुत से परंपरागत सुर आज के दिन निचले असम में प्रचलित हैं। इस कड़ी में टोकारी गीत आदि का जिक्र किया जा सकता है।

परंपरागत सुर-गीत को मंच पर प्रस्तुत करने के दौरान वे इस बात पर विशेष ध्यान देते थे कि सुर की शुद्धता बनी रहे। खगेन महंत के गीतों में एकरूपता नहीं दिखती और न ही उनके एक के बाद एक गीत सुनने के बाद थकावट अथवा आलस का अनुभव होता है। खगेन दा दूसरों का अनुकरण करने के बजाए विशुद्ध तरीके से सुर-सृजन करने को महत्व देते और इसीलिए संगीत प्रेमी उनको इतना सम्मान-स्नेह और प्यार देते थे। खगेन महंत के चले जाने से असम के सांस्कृतिक जगत को जो क्षति पहुंची है, उसकी भरपाई कभी भी नहीं की जा सकेगी। मूल (थलुआ) सुरों को शुद्ध रूप से श्रोताओं के सामने प्रस्तुत करने वाले एक कलाकार को हम असमवासियों ने हमेशा-हमेशा के लिए खो दिया।